सांख्यदर्शन

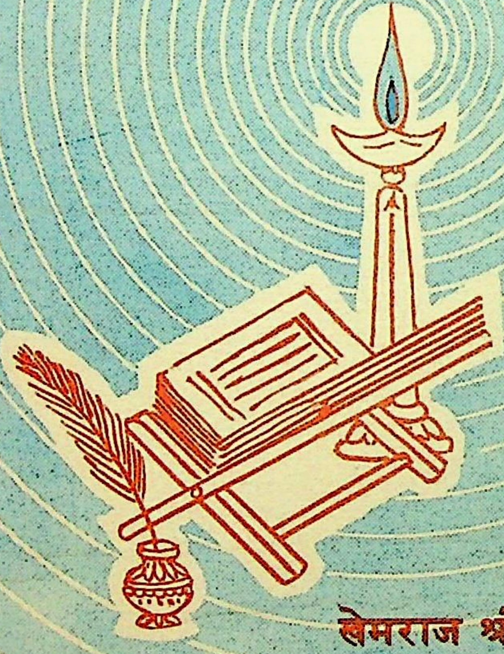

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

श्रीमहर्षिकपिलमुनिप्रणीतं–

सांख्यदर्शनम्

बाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामनिवासि–
श्रीमत्प्यारेलालत्मजश्रीमत्प्रभुदयालुनिर्मित–

देशभाषाभाष्यसमेतम्
हिन्दीटीकासहितम्

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

संस्करण : फरवरी २००९, सम्वत् २०६५

मूल्य ५० रुपये मात्र।

© सर्वाधिकार : प्रकाशक द्वारा सुरक्षित

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,™
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers :
Khemraj Shrikrishnadass,
Prop: Shri Venkateshwar Press,
Khemraj Shrikrishnadass Marg, 7th Khetwadi,
Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.Khe-shri.com
Email : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s. Khemraj Shrikrishnadass Proprietors Shri Venkateshwar Press, Mumbai - 400 004, at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411 013.

भूमिका

ॐ परमात्मनेनमः। परमात्मा को प्रणाम करके अज्ञानियों के उपदेश के निमित्त जो संस्कृत वाणी में शास्त्र को नहीं समझ सकते हैं। उनके समझने व सरलता के अर्थ विस्तार को त्याग करके संक्षेप से सांख्य शास्त्र के सूत्रों का अर्थ व भाष्य सरल भाषा में वर्णन करता हूँ व जहाँ कोई विशेष संस्कृत शब्द रक्खा है व ऐसा ( ) चिह्न करके उस शब्द का अर्थ चिह्न के मध्य में जानने के लिये लिख दिया है। अथवा उस शब्द का भाव चिह्न के मध्य में लिख दिया है। विद्वान्जनों से यह प्रार्थना है कि यदि प्रमाद से कहीं भूल हो गई हो तो अपनी सज्जनता व गुणमात्र ग्राहकता से विमार्जित कर लेवें, इस पुस्तक के मुद्रित करने का सर्वाधिकार हमने श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदास श्रीवेङ्कटेश्वर यंत्रालयाध्यक्ष को समर्पण कर दिये हैं, अतएव अन्य किसी को छापने का अधिकार नहीं।

सज्जनों का कृपाकांक्षी–प्रभुदयालु

धन्यवाद

हम कोटिशः धन्यवाद उस परब्रह्म परमात्मा को देते हैं कि जिसकी पूर्णानुकम्पा से अब भी ऐसे परोपकारोद्यत पुरुष विद्यमान हैं, जिनके द्वारा सर्व सामान्य को भी कठिन-कठिन विषयावलोकन होते हैं और अनेक धन्यवाद श्रीमंत् प्रभुदयालुजी को है कि जिन्होंने योगसूत्रों का ऐसा सरल भाषानुवाद किया है जो भलीभांति समझ में आता है बल्कि साथ ही उसका असर भी पड़ता जाता है। प्रथम उक्त महाशयजी रचित भाषानुवाद सहित "पातञ्जलयोगदर्शन" दृष्टि गोचर कर चुके हैं और यह "सांख्यदर्शन" अब होता है। और "वैशेषिकसूत्रभाषानुवादसहित" भी छप चुका है। आशा है कि सांख्ययोग विषयानुरागी सज्जनजन आदरकर प्रभुदयालुजी के उत्साह को बढ़ाकर इनके श्रम को सफल करेंगे।

आपका कृपापात्र–
खेमराज श्रीकृष्णदास–
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस–बम्बई

ॐ परमात्मने नमः

सांख्यदर्शनम्

हिन्दीटीकासहितम्

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥१॥

अथ त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होना अत्यन्त पुरुषार्थ है॥१॥

अथ शब्द मंगलरूप है इससे आदि में अथ शब्द कहकर शास्त्र का आरंभ किया है। पुरुषार्थ निरूपण शास्त्र का विशेष विषय अंगीकार करके आदि में पुरुषार्थ का वर्णन किया है कि त्रिविध दुःख की निवृत्ति पुरुषार्थ है। आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक ये त्रिविध दुःख हैं जो आत्मा को अपने शरीर व इन्द्रियों के संयोग से शारीरिक रोग आदि से अथवा मानसिक दुःख होता है उसको आध्यात्मिक कहते हैं, जो भूत अर्थात् प्राणियों के द्वारा से यथा चोर, व्याघ्र, सर्प आदि से दुःख होता है उसको आधिभौतिक कहते हैं और जो अग्नि, वायु आदि से दुःख होता है उसको आधिदैविक कहते हैं इस त्रिविध दुःख का अत्यन्त निवृत्त होना अत्यंत पुरुषार्थ है। अब यह संदेह होता है कि जो दुःख हो गया उसका तो नाश ही हो चुका जो वर्तमान है उसका वर्तमान क्षण में भोग ही होता है। भोग के पीछे आप ही नष्ट हो जायगा। उसके नाश के अर्थ साधन व ज्ञान की अपेक्षा नहीं हो सकती। शेष रहा जो होनेवाला है उसी के निमित्त साधन व ज्ञान की अपेक्षा है। इसमें भी कोई यह शंका करते हैं कि जो नहीं हुआ उसका प्रमाण ही नहीं है जो नहीं हुआ न वर्तमान है आगे होगा यह क्यों मान लेवें और उसके नाश का उपाय करना ऐसा है जैसे आकाश के फूल के नाश का उपाय करना क्योंकि जब आकाश में फूल ही नहीं होता तो उसके नाश का उपाय वृथा है अब इस संदेह निवारण के लिये उत्तर यह है कि यह दृष्टांत अयोग्य है

अपने अपने कार्य उत्पन्न करने की शक्ति द्रव्य में जब तक द्रव्य है बनी रहती है यथा दाह से रहित अग्नि का होना कहीं देखने में नहीं आता इसी प्रकार से अपने अपने कार्य उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्येक पदार्थ में होती है यह शक्ति अनागत (भविष्यत्) काल में प्रगट होने वाली द्रव्य में स्थित रहती है इससे जब तक चित्त की सत्ता है तब तक अनागत (होनेवाले) दुःख के सत्ता का अनुमान होता है इसका निवृत्त होना पुरुषार्थ है (शंका) ऐसा मानने में दुःख निवृत्त होना कहना ही असंगत है क्योंकि दुःख चित्त का धर्म्म है पुरुष में उसकी निवृत्ति का होना संभव नहीं है (उत्तर) यह कहना यथार्थ नहीं है जो पुरुष दुःख रहित है तो श्रवण मनन से अनन्तर दुःख के नाश के लिये प्रवृत्ति न होना चाहिये क्योंकि साध्य उपाय मे जब फल का निश्चय होता है। तभी प्रवृत्ति होती है बिना फल के निश्चय प्रवृत्ति नहीं होती दुःख के अभाव फल का वर्णन करने वाली श्रुति यह निश्चय कराती है कि आत्मा नित्य दुःख रहित नहीं होता ज्ञान होने पर दुःख रहित होता है। श्रुति यह है।

"तरति शोकमात्मविद् विद्वान् हर्षशोकौ जहाति" ।

अर्थ-आत्मा का जाननेवाला शोक से तर जाता है ज्ञानवान् हर्ष शोक दोनों को त्याग देता है पुरुष यद्यपि निज शुद्धरूप से दुःख रहित शुद्ध मुक्त है तथापि अविद्या से पुरुष में दुःख सुख होते हैं अविद्या से रहित ज्ञान प्राप्त होने की अवस्था में संसारी दुःख सुख से रहित आनन्दमय मुक्तरूप होता है यथा यह कहा है-

"न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" ।

अर्थ-नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव पुरुष को प्रकृति के संयोग बिना बंध व दुःख का संयोग नहीं है उससे अविद्या भ्रम से यथा स्फटित शुद्ध शुक्ल रूप होता है परंतु अरुण रूप आदि संयुक्त द्रव्य के प्रतिबिंब से उसी के रूप से भासित होता है इसी प्रकार से उपाधि द्वारा पुरुष में दुःख भोग का सम्बन्ध होता है इसके निवृत्त होने को पुरुषार्थ कहना यथार्थ है, संक्षेप से यहां वर्णन किया गया है विस्तार से आगे वर्णन किया जायगा।।१।।

अब प्रश्न यह है कि दुःख की निवृत्ति के अर्थ ज्ञान की क्या आवश्यकता है लौकिक उपाय से दुःख निवृत्त हो जायगा। उत्तर-

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।।२।।

निवृत्त हो जाने पर भी फिर अनुवृत्ति देखने से दृष्टपदार्थ से उसकी (दुःख निवृत्ति की) सिद्धि नहीं होती ।।२।।

धन का दुःख धन की प्राप्ति से व प्रिय के वियोग का दुःख प्रिय के संयोग से नष्ट हो जाता है परंतु कालान्तर में फिर धन के क्षय से व प्रिय के वियोग से दुःख प्राप्त होता है इसी प्रकार से जिस जिस संसार दुःख का नाश होना देखा जाता है उस दुःख की फिर प्राप्ति होती है अत्यंत दुःख की निवृत्ति नहीं होती उस दृष्टि से अर्थात् जो उपाय लोक में देखने में आते हैं उनसे दुःख की निवृत्ति होना सिद्ध नहीं होता ज्ञान हीं से अत्यंत दुःख निवृत्त होना सिद्ध होता है।।२।।

प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात्पुरुषार्थत्वम् ।।३।।

प्रतिदिन क्षुधा निवारण के तुल्य उसके (दुःख के) निवारण का उपाय वा खोज करने से पुरुषार्थ होना सिद्ध नहीं होता ।।३।।

सिद्ध नहीं होता यह अर्थ इस सूत्र में पूर्व सूत्र से सिद्ध न होने की अनुवृत्ति आने से ग्रहण किया जाता है। दृष्ट उपाय से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता और जो होता है वह क्षुधा निवृत्त होने के समान होता है। यथा प्रतिदिन भोजन से क्षुधा निवृत्त हो जाती है निवृत्त होने के समय में क्षुधा का दुःख दूर हो जाता है परंतु फिर प्राप्त हो जाता है यथा क्षुधा दुःख निवारण किये गये की फिर अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार से धन अर्जन आदि में जानना चाहिये ऐसा साधन जो मन्द पुरुषार्थ के लिये है ज्ञानवान् को त्याग करने के योग्य है यह आगे सूत्र में कहा है।। ३।।

सर्वासंभवात्संभवेपि सत्तासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ।।४।।

सब असंभव होने से संभव होने पर भी सत्तासंभव होने से प्रमाण में जे कुशल (प्रवीण) हैं उनको त्याग करना चाहिये ।।४।।

दृष्ट साधन से जो दुःख का दूर होना है उसमें सर्वथा दूर होना असंभव है और जो संभव है, उसमें भी दुःखसत्ता का रहना संभव है

अर्थात् प्रतिग्रह पाप आदि से उत्पन्न दुःख अवश्य होता है इससे प्रमाण के जानने में जे प्रवीण हैं उनसे वह त्याग ही के योग्य है अर्थात् संसार सुख जिसके लिये मूर्ख तन मन से उपाय करते हैं व उसके वश होते हैं वह अंत में नाश को प्राप्त होने वाला व दुःख परिणामरूप है इससे ज्ञानवान् को त्याग करना चाहिये।।४।।

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।।५।।

मोक्ष के उत्कर्ष से भी सबके उसके उत्कर्ष (श्रेष्ठत्व) होने में श्रुति प्रमाण होने से ।।५।।

उत्कर्ष उच्चता वा उत्तमता को कहते हैं दृष्ट साधन से सिद्ध करने के योग्य जो राज्य आदि हैं उनसे मोक्ष का उत्कर्ष होने से अर्थात् मोक्ष की श्रेष्ठता होने से भी यह निश्चित होता है कि सब राज्य आदिक सांसारिक सुख में दुःख है मोक्ष ही सुखरूप व इष्ट साध्य पदार्थ है सबसे मोक्ष के उत्कृष्ट होने में श्रुति प्रमाण है श्रुति में कहा है।।५।।

"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति"

अर्थ-निश्चय करके जो शरीरवान् है उसके दुःख सुख का नाश नहीं है।

"अशरीरं वा व सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" ।

अर्थ-शरीर रहित वा शरीर अभिमान रहित जो मुक्तरूप सन्त है उसको दुःख सुख स्पर्श नहीं करते अर्थात् नहीं होते।।५।।

अब यह प्रश्न है कि, जो दृष्ट साधन से सर्वथा दुःख का नाश नहीं होता तो वेदविहित यज्ञ आदि कर्म से हो जायगा। उत्तर-

अविशेषश्चोभयोः ।।६।।

दोनों का विशेष (भेद) नहीं है ।।६।।

दोनों का अर्थात् दृष्ट जो लोक में देखने में आता है व अदृष्ट जो यज्ञ माधन धर्म फल वेद विहित देखने में नहीं आता इन दोनों का जैसा कहा गया है। अत्यंत दुःख की निवृत्ति के साधक न होने में विशेष नहीं है अर्थात् दोनों एक ही समान हैं अत्यंत दु.ख की निवृत्ति यह आदि फल से भी नहीं होती मोक्ष से साधक होने में विवेक होना ही मुख्य उपाय है

विवेक से अविवेक जो दुःख का हेतु है उसी के नाश से दुःख मात्र का नाश होता है अन्यथा नहीं होता।।६।।

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।।७।।

स्वभाव से बँधे हुये को मोक्ष साधनके उपदेश की विधि नहीं है।।७।।

अत्यंत दुःख निवृत्ति को जो मोक्ष वर्णन किया है इसमें बंधन केवल दुःख का योग है, पुरुष में दुःख बंध स्वाभाविक नहीं है जो स्वभाव से बँधा है तो उसको मोक्ष साधन के उपदेश की विधि नहीं हो सकती क्योंकि स्वाभाविक धर्म का जब तक द्रव्य है तब तक नाश नहीं हो सकता द्रव्य के नाश से उसका नाश हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता। यथा स्वाभाविक उष्णता (गरमी) का अग्नि से भिन्न होना संभव नहीं होता इसी प्रकार से स्वाभाविक बंध होने से पुरुष का मोक्ष होना संभव नहीं हो सकता इससे पुरुष में बंध स्वाभाविक नहीं है।।७।।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ।।८।।

स्वभाव के नाशवान् न होने से अननुष्ठान लक्षण (अविधि स्वरूप) अर्थात् विधिरहित रूप अप्रामाण्य (प्रमाणरूप न होना) होगा अर्थात् श्रुति का अननुष्ठान लक्षण अप्रामाण्य होगा।।८।।

स्वभाव के नाशवान् न होने के हेतु से मोक्ष असंभव होने से श्रुति में जो मोक्ष साधन का उपदेश है उसके अनुष्ठान के लक्षण युक्त न होने से श्रुति का प्रामाण्य न होगा अर्थात् जब स्वाभाविक बंध से मोक्ष असंभव होने के कारण से श्रुति में उपदेश किये गये मोक्ष साधन का अनुष्ठान नहीं हो सकता है तो अनुष्ठान लक्षण रहित होने से श्रुति मे जो मोक्ष का उपदेश है। वह प्रमाण के योग्य होने से उसके विरुद्ध स्वाभाविक बंध मानना प्रमाण के योग्य नहीं है।।८।। श्रुति में वर्णन किये जाने से अनुष्ठान किया जावे जो ऐसा माना जावे तो उत्तर यह है जैसा आगे सूत्र में कहा है–

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेप्यनुपदेशः ।।९।।

जो नहीं हो सकता उसमें उपदेश विधि नहीं है उपदेश किये गये में भी उपदेश नहीं है।।९।।

जिसका होना संभव नहीं है उसके उपदेश की विधि नहीं है और जो उसका उपदेश किया जाय तो भी निष्फल होने से वह उपदेश नहीं है।।९।।

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ।।१०।।

शुक्लपट के समान वा बीज के समान होवे।।१०।।

अब यह शंका है कि स्वाभाविक शुक्लपट की शुक्लता रंग से व बीज की स्वाभाविक अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति अग्नि में पक जाने से दूर हो जाती है इसी प्रकार से पुरुष का स्वाभाविक बंधन दूर हो जाना संभव है जो ऐसा माना जावे।।१०।। उत्तर–

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ।।११।।

शक्ति के उत्पन्न होने व न उत्पन्न होने से जो नहीं हो सकता उसका उपदेश नहीं है।।११।।

जो शुक्लपट व बीज का दृष्टांत दिया गया है वह युक्त नहीं है इससे यथार्थ नहीं है आशय यह है कि पट व बीज में शुक्लता अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव नही होता केवल प्रकटता व अप्रकटता होती है धोबी के व्यापार व योगी के संकल्प से अरुणपट आदि में व भुजे हुए बीज में फिर शुक्लता व अंकुर उत्पत्ति की शक्ति प्रकट होती है इसी प्रकार से पुरुष में दुःख शक्ति का तिरोभाव (प्रकट न रहना) मोक्ष नहीं है दुःख का अत्यंत निवृत्त होना मोक्ष है इससे दृष्टांत युक्त नहीं है।।११।।

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ।।१२।।

व्यापक नित्य के सब में संबन्ध होने से कालयोग से नहीं है।।१२।।

जो स्वाभाविक पुरुष में बंध न माना जाय काल निमित्त से माना जाय तो उत्तर यह है कि काल योग से पुरुष को बंध नहीं है क्योंकि काल व्यापक नित्य का मुक्त व अमुक्त सब में सर्वदा सम्बंध रहता है सब में सम्बंध रहने से मुक्त पुरुषों को भी बंधन होना चाहिये मुक्त होना ही असंभव होना चाहिये परंतु ऐसा होना प्रमाण विरुद्ध होने से काल सम्बंध से पुरुष का बंधन होना सिद्ध नहीं होता पुरुष में बंधन केवल मिथ्या बुद्धि उपाधि से होता है।।१२।।

न देशयोगतोप्यस्मात् ॥१३॥

इसी हेतु से देश योग से भी नहीं है॥१३॥

इसी हेतु से जो काल योग में कहा गया है अर्थात् देश का भी मुक्त व अमुक्त सब में सदा सम्बंध होने से देश योग से पुरुष का बंधन होना सिद्ध नहीं होता, नहीं मुक्त पुरुष को भी बंधन होना चाहिये॥१३॥

नावस्थातो देहधर्म्मत्वात्तस्याः ॥१४॥

अवस्था के देह धर्म होने से अवस्था से नहीं है॥१४॥

यदि अवस्था से पुरुष का बंधन होना माना जावे तो अवस्था से बंधन नहीं हो सकता क्यों नहीं हो सकता? उसके देह धर्म होने से अर्थात् अवस्था के देह धर्म होने से अवस्था जड़ देह का धर्म है पुरुष का धर्म नहीं है अन्य का धर्म अन्य के बंधन का कारण नहीं हो सकता जो अन्य के धर्म से अन्य का बंधन होना माना जावे तो मुक्त का भी बंधन होना सिद्ध होगा॥१४॥

असंयोगं पुरुष इति ॥१५॥

यह पुरुष संगरहित है॥१५॥

पुरुष में भी अवस्था अंगीकार करने से क्या दोष है? उत्तर यह है कि पुरुष (आत्मा) संग रहित है जो यह कहा जाय कि देह व पुरुष का संयोग है पुरुष संग रहित कैसे हो सकता है तो संयोग मात्रा से संग नहीं होता तथा कमलपत्र में जल का संयोग होता है परंतु कमलपत्र में उसका संग अर्थात् मेल नहीं होता इसी प्रकार से पुरुष असंग है॥१५॥

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥१६॥

अन्य का धर्म होने से व अति प्रसक्ति से कर्म से नहीं है अर्थात् बंध नहीं है॥१६॥

धर्म अधर्म कर्म से पुरुष का बंध माना जावे तो कर्म से भी पुरुष का बंध होना सिद्ध नही होता, क्योंकि कर्म पुरुष का धर्म नहीं है अन्य का धर्म अर्थात् अंतःकरण चित्त का धर्म है अन्य के धर्म से अन्य के बंध होने में मुक्त पुरुष का भी बंध होना संभव होगा जो यह कहा जाय कि अपने अपने उपाधि के कर्म से बंध अंगीकार करने में यह दोष न होगा इससे

दूसरा हेतु यह कहा है कि अति प्रसक्ति से, अर्थात् कर्म बंधन के अतिसंयोग होने से भी कर्म से पुरुष का बंध होना नहीं सिद्ध होता क्योंकि कर्म संस्कार प्रलय में भी बना रहता है परंतु कारण मात्र में लय को प्राप्त रहने से दुःख सुख के बोध का हेतु नहीं होता, कर्म से बंध मानने में प्रलय आदि में भी दुःख योगरूप बंध की प्राप्ति होगी परंतु ऐसा होना प्रमाण से सिद्ध न होने से कर्म से बंध नहीं है जो सहकारी काल के विलंब से प्रलय में विलम्ब होना कल्पना किया जाय तो काल के हेतु न होने का पूर्व ही प्रतिषेध कर दिया गया है।।१६।।

जो काल आदि कोई पुरुष के बंध कें हेतु नहीं हैं तो चित्त ही को दुःख योगरूप बंध मानना चाहिये पुरुष का बंध क्यों कल्पना किया जाता है, और विना बंध मोक्ष का भी प्रयोजन नहीं है। उत्तर–

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ।।१७।।

अन्य के धर्म होने में विचित्र भोग की सिद्धि वा प्राप्ति न होगी।।१७।।

दुःखयोग रूप बंध चित्त मात्र जो पुरुष से अन्य है उसके धर्म होने में विचित्र भोग की प्राप्ति न होगी अर्थात् अन्य के धर्म होने में विना पुरुष के योग पुरुष में दुःख भोग होना मानने में नियामक का अभाव होगा नियामक के अभाव होने में सब पुरुषों के दुःख सब पुरुषों के योग्य होंगे यह दुःख का भोक्ता है यह सुख का भोक्ता है यह भोग होने का विचित्र भेद जो अनेक पुरुषों में होता है न होना चाहिये विचित्र भोग सिद्ध होने से भोग के नियामक होने से दुःख आदि योगरूप जो बंध है वह पुरुष में भी अंगीकार करने के योग्य है पुरुष में बंध चित्तवृत्ति के उपाधि से है स्वाभाविक नहीं है व चित्त ही का बंध व मोक्ष है। पुरुष का नहीं है चित्त के योग से पुरुष का भी बंध व मोक्ष कहा है।।१७।।

प्रकृतिनिबंधनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ।।१८।।

प्रकृति के निमित्त से होवे नहीं उसके भी परतंत्र होने से।।१८।।

जो प्रकृति के निमित्त से बंध माना जावे तो नहीं हो सकता क्योंकि उसके बंध को निमित्त होने में भी उसका व पुरुष का संयोग होना

परतंत्र (पर के अधीन) है प्रकृति के आधीन नहीं है आगे इसका वर्णन किया जायगा। प्रकृति के अधीन न होने से प्रकृति निमित्त से भी बंध होना सिद्ध नहीं होता यद्यपि प्रकृति स्वतंत्र बंध का कारण नहीं है परंतु उपाधि से प्रकृति का संयोग ही बंध का हेतु है जैसा कि सूत्रकार ने आगे इस सूत्र में कहा है।।१८।।

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।।१९।।

नित्य शुद्ध चेतन मुक्त स्वभाव का उसके योगरहित होने में उसका योग नहीं है।।१९।।

उसके अर्थात् प्रकृति के योग रहित होने से नित्य शुद्ध चेतन मुक्त स्वभाव पुरुष को उसका योग नहीं है अर्थात् बंध का योग नहीं है अभिप्राय यह है कि जब तक प्रकृति का योग है तभी तक उपाधि से पुरुष का बंध होना ज्ञात होता है। यह सूत्र विशेष वर्णन के योग्य है परंतु आगे ग्रंथ में विशेष व्याख्यान किया है। इससे यहाँ विस्तार करने की आवश्यकता न जानकर संक्षेप ही वर्णन किया है। पूर्व वर्णन से बंधन न स्वाभाविक है न नैमित्तिक है केवल उपाधि से है जैसे अग्नि संयोग से जल में गरमी होती है। इसी प्रकार से पुरुष में औपाधिक बंध है व दीप की शिखाओं के सदृश चित्त की वृत्तियां जो दुःख के कारण हैं उनके नाश होने से उनके धर्म दुःख इच्छा आदिकों का नाश होना संभव होता है। प्रकृति के वियोग से पुरुष के औपाधिक बंध का अभाव हो जाता है व संयोग का निवृत्त होना यही मुक्ति की प्राप्ति व बंध की हानि का उपाय है।।१९।।

अब जे अद्वैतवादी अविद्या मात्र से बंध मानते हैं उनके मत के खण्डन में वर्णन करते हैं–

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बंधायोगात् ।।२०।।

अवस्तु से बंधयोग न होने से अविद्या से भी नहीं है।।२०।।

यथा पूर्वोक्त काल आदि के सम्बन्ध से नहीं है तथा अविद्या से पुरुष का बंध नहीं है क्योंकि अविद्या कोई वस्तु नहीं है। अवस्तु से बंध योग नहीं हो सकता यथा स्वप्न में रस्सी से बंध होने का प्रत्यक्ष नहीं होता

तथा स्वप्नवत् अविद्या से पुरुष का बंध नहीं है॥२०॥

वस्तुत्वे सिद्धांतहानिः ॥२१॥

वस्तु होने में सिद्धांत की हानि है॥२१॥

जो अविद्या वस्तु होना अंगीकार किया जाय तो जो अविद्या को अपने सिद्धांत में अद्वैतवादी ने मिथ्या माना है उसकी हानि है॥२१॥

विजातीये द्वैतापत्तिश्च ॥२२॥

और विजातीय में द्वैत की सिद्धि है॥२२॥

जो अविद्या वस्तु होना अंगीकार किया जाय परंतु क्षण मात्र के ज्ञान संतान होने व भ्रमरूप होने से विजातीय होना माना जाय तो द्वैत होना सिद्ध होगा यह अद्वैत मत के विरुद्ध है। इससे अविद्या का अज्ञान जातीय मानना भी सिद्ध नहीं होता जो यह संशय हो कि अविद्या भी ज्ञान विशेष रूप होने से अविद्या को विद्या से विजातीय क्यों मानना चाहिये तो विद्या ज्ञानरूप मुक्ति की हेतु है व वासनारूप अविद्या बंध का हेतु है। वासना ज्ञान से विजातीय है इससे अविद्या का विजातीय होना सिद्ध है परंतु उक्त हेतु से विजातीय मानना भी अद्वैत मत में युक्त नहीं है॥२२॥

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥२३॥

जो दोनों रूप से मानी जाय तो विरुद्ध होता है॥२३॥

जो अविद्या सत् व असत् दोनों रूप से मानी जाय तो विरुद्ध होता है वही सत् वही असत् होना संभव नहीं है। इससे दोनों रूप से अविद्या का मानना युक्त नहीं है॥२३॥

न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ॥२४॥

प्रतीत न होने से उस प्रकार का पदार्थ नहीं है॥२४॥

उस प्रकार का जैसा कहा गया है कि वही सत् व असत् दोनों हों ऐसा कोई पदार्थ होना प्रतीत न होने से ऐसा पदार्थ नहीं माना जा सकता॥२४॥

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥२५॥

वैशेषिक आदि के समान हम छः पदार्थ के वादी नहीं हैं॥२५॥

यथा वैशेषिक आदि छः पदार्थ नियत संख्या से पदार्थ को कहते हैं तथा हम नहीं कहते। संख्या नियम रहित होने से सत् असत् रूप अथवा सत् असत् से विरुद्ध अविद्या पदार्थ मानने में दोष नहीं जो ऐसा कहा जावे तो इसका उत्तर यह है।।२५।।

अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ।।२६।।

नियत न होने में भी युक्ति विरुद्ध का संग्रह नहीं होता अन्यथा बालक व मतवाले आदि की समानता होगी।।२६।।

नियत पदार्थ न हो तो भी वही सत् वही असत् जो युक्ति से विरुद्ध है उसका संग्रह नहीं हो सकता और जो संग्रह किया जाय तो यथा बालक व उन्मत्त युक्त अयुक्त का ग्रहण करता है उसके संग्रह का कुछ प्रमाण नहीं हैं तथा यह भी माना जायगा।।२६।।

कोई नास्तिक कहते हैं बाह्य विषय क्षणिक हैं इनके वासना से जीव को बंध है इसके उत्तर में यह सूत्र वर्णन करते हैं–

नानादिविषयोपरागनिमित्ततोप्यस्य ।।२७।।

इसको अनादि विषय वासना निमित्त से भी नहीं है।।२७।।

इसका अर्थात् इस पुरुष आत्मा को जो अनादि विषय की वासना है उनके निमित्त से भी बंध होना संभव नहीं होता इसका हेतु आगे सूत्र में वर्णन करते हैं।।२७।।

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ।।२८।।

देश के अंतर होने से स्रुघ्न के रहनेवाले व पाटलिपुत्र के रहनेवाले के समान बाह्य व अंतर दोनों में उपरञ्ज्य व उपरञ्जक भाव नहीं होता।।२८।।

जो देह के अंतर देश मात्र में आत्मा का होना व बाह्य विषयों को आत्मा के संबंध का हेतु होना मानते हैं। उनके मत के प्रतिषेध करने के लिये सूत्र में यह हेतु वर्णन किया है कि देह के अंतर स्थित जो आत्मा है उसको अंतर के विषय में उपरंज्य व उपरञ्जक भाव हो सकता है।

आन्तर व बाह्य दोनों में देश के अंतर होने से नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा देह के अंतर देश में है। इससे दोनों का आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता संयोग ही से वासना अर्थात् उपराग होना देखा जाता है जैसे मँजीठ व वस्त्र के संयोग होने से व पुष्प के व स्फटिक के संयोग होने से उपराग होता है। आत्मा व बाह्य विषय के साथ देश के अंतर होने से किसी प्रकार से संयोग नहीं हो सकता यथा स्रुघ्न (आगरा) व पाटलिपुत्र (पटना) के रहनेवालों का संयोग नहीं हो सकता। जिस पदार्थ में प्रीति वा वासना हो उसको उपरञ्ज्य व जिसको उसकी वासना प्रीति हो उसको उपरञ्जक कहते हैं। जो यह कहा जाय कि यथा तुम्हारे मत में विषय देश में इंद्रियों के जाने व विषय संयोग होने से उपराग होता है तथा हमारे मत में विषय देश में (जहाँ विषय हैं वहां) आत्मा के जाने व विषय संयोग होने से उपराग होना कहना योग्य है इसका उत्तर यह है॥२८॥

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ॥२९॥

दोनों के एक देश में लब्ध में उपराग होने से व्यवस्था नहीं होगी॥२९॥

जो आत्मा का विषय देश में जाना माना जायगा तो दोनों के अर्थात् बद्ध व मुक्त दोनों के आत्माओं का एक ही विषय देश में लब्ध विषय में उपराग होने से अर्थात् विषय उपराग के प्राप्त होने से बंध व मोक्ष की व्यवस्था (पृथक्ता) न रहेगी मुक्त को भी बंध की प्राप्ति होगी॥२९॥

अब पदार्थों को क्षणिक माननेवालों की शंका को वर्णन करते हैं–

अदृष्टवशाच्चेत् ॥३०॥

अदृष्ट वश से होवे॥३०॥

एक देश सम्बंध होने व सम विषय संयोग होने पर भी केवल अदृष्ट (संस्कार नियम) वश से उपराग होता है। यह माना जावे तो इस शंका का उत्तर यह है॥३०॥

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः ॥३१॥

दोनों में एक कालके योग न होने से उपकार्य्य उपकारक भाव न होगा।।३१।।

क्षणिक होने से कर्ता व भोक्ता के एक काल में न होने से दोनों में उपकार्य्य उपकारक भाव नहीं हो सकता जिसका उपकार वा जो उपकार के योग्य हो वह उपकार्य्य है वहं उपकार करनेवाला उपकारक है क्यों उपकार्य्य उपकारक भाव नहीं हो सकता वा नहीं होगा. हेतु यह है कि कर्त्तानिष्ठ जो अदृष्ट है उससे भोक्तानिष्ठ विषय उपराग का होना संभव नहीं होता।।३१।। शंका–

पुत्रकर्मवदिति चेत् ।।३२।।

पुत्र कर्म के समान होवे।।३२।।

यथा पिता में निष्ठ अर्थात् पिता में स्थित पुत्र के लिये जो कर्म है उससे पुत्र का उपकार होता है तथा व्यधिकरण के अदृष्ट से अर्थात् अन्य अधिकरण के अदृष्ट से विषय उपराग होवे यह माना जावे।।३२।। उत्तर–

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ।।३३।।

उसमें जो गर्भाधान आदि से संस्कार को प्राप्त होता है ऐसा स्थिर एक आत्मा नहीं है।।३३।।

उसमें अर्थात् क्षणिकवादी नास्तिक के मत में गर्भाधान से आरम्भ करके जन्मपर्यंत स्थिर एक आत्मा नहीं है कि जो इस जन्म के पश्चात् काल के कर्मों के अधिकार के लिये पुत्रइष्टि करके संस्कार किया जाय इससे पुत्रइष्टि करके भी नास्तिक क्षणिकवादी के मत में पुत्र का उपकार होना घटित नहीं होता व दृष्टांत भी असिद्ध है।।३३।।

स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ।।३४।।

स्थिर कार्य की सिद्धि न होने से क्षणिक होना।।३४।।

स्थिर कार्य की सिद्धि न होने से बंध का भी क्षणिक होना सिद्ध होता है। दीपशिखा के समान नियत कारण वा अभाव कारण से क्षणिक बंध है यह मानना चाहिये।।३४।। उत्तर–

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।।३५।।

नहीं प्रत्यभिज्ञा से बाधा होने से।।३५।।

पूर्व जाने हुए पदार्थ को वर्तमान काल में जानने से यह वही है ऐसे ज्ञान होने को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जो मैंने देखा था उसी को मैं अब स्पर्श करता हूँ इस प्रत्यभिज्ञा से स्थिर होने की सिद्धि व क्षणिक होने की बाधा होने से पदार्थ क्षणिक नहीं हैं। बंध घटपट आदि के तुल्य स्थिर हैं व दीपशिखा में अनेक सूक्ष्म क्षणों के योग होने से क्षणिक मानना केवल भ्रम है।।३५।।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।।३६।।

श्रुति व न्याय के विरोध से भी।।३६।।

श्रुति व न्याय के विरोध से भी किसी का क्षणिक होना नहीं पाया जाता श्रुति में कहा है–

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् । तमएवेदमग्र आसीत्"

अर्थ–हे सौम्य (प्रियदर्शन) यह संसार आगे (सृष्टि से पहिले) भी सत् ही था पहिले यह तम ही (तम रूप ही) था। अर्थात् सूक्ष्म कारण रूप व सूर्य आदि के प्रकाश से रहित होने से अलक्ष्य था इत्यादि श्रुति से क्षणिक होना सिद्ध नहीं होता और कार्य कारणात्मक अखिल प्रपंच में क्षणिक होना अनुमान के विरुद्ध होने से व असत् से सत् का होना संभव न होने से क्षणिक होना प्रमाण से सिद्ध नहीं है।।३६।।

दृष्टांतासिद्धेश्च ।।३७।।

दृष्टांत से क्षणिक होने की सिद्धि न होने से भी।।३७।।

प्रदीप शिखा आदि के दृष्टांत में अनेक सूक्ष्म क्षणों के संयोग होने से क्षणिक होने की सिद्धि न होने से क्षणिक होने का अनुमान नहीं होता।।३७।।

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ।।३८।।

एकवार ही दोके उत्पन्न होने में कार्य कारणभाव नहीं हो सकता।।३८।।

पूर्व सत् कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है साथ ही दोनों के उत्पन्न होने में कार्य कारण भाव नहीं हो सकता बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्रम से अर्थात् कारण से पीछे अन्य क्षण में कार्य की उत्पत्ति मानने में क्षणिक होना सिद्ध नहीं होता क्रम से कार्यकारण भाव मानने पर भी क्षणिक वादी के मत से कार्य का होना सिद्ध नहीं हो सकता क्यों सिद्ध नहीं हो सकता यह आगे सूत्र में वर्णन करते हैं।। ३८।।

पूर्वापाये उत्तरायोगात्।।३९।।

पूर्व के नाश होने पर उत्तर का योग न होने से।।३९।।

क्षणिक होने में पूर्व जो कारण है उसके नाश हो जाने पर उत्तर जो कार्य है। उसका कारण के साथ योग न होने से उसकी उत्पत्ति होना व कार्य कारण भाव होना संभव नहीं होता क्योंकि उपादान कारण के अनुगत होने ही से कार्य का अनुभव होता है।।३९।।

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।।४०।।

उसके भाव में उसका योग न होने से दोनों के व्यभिचार से भी नहीं हो सकता।।४०।।

पूर्व भाव काल में उत्तर का सम्बंध नहीं है तो दोनों के व्यभिचार से अर्थात् अन्वय व्यतिरेक के व्यभिचार से भी कार्य कारणभाव नहीं हो सकता जब उपादान होता है। तब उपादेय की उत्पत्ति होती है और जब उपादान नहीं होता तब उपादेय की उत्पत्ति का अभाव होता है। इस प्रकार से अन्वय व्यतिरेक ही से उपादान उपादेय के कार्य कारण भाव का ग्रहण होता है। क्षणिक होने में दोनों के क्रमिक होने से व अन्वयव्यतिरेक के व्यभिचार होने से कार्य कारण भाव की सिद्धि नहीं होती।।४०।।

पूर्वभावमात्रे न नियमः ।।४१।।

पूर्वभाव मात्र में नियम नहीं है।।४१।।

जो यह कहा जावे कि, निमित्त कारण तुल्य उपादान कारण का भी पूर्वभाव मात्र होने से कारण अंगीकार किया जावे। इसके उत्तर में यह सूत्र है कि, पूर्वभाव मात्र होने से उपादान होने का नियम नहीं है व

निमित्त कारणों का भी पूर्वभाव मात्र होना विशेष नहीं है उसमें भी विशेष कार्य कारण भाव होने की आवश्यकता है।।४१।।

कोई नास्तिक यह कहते हैं कि विज्ञान से भिन्न वस्तु होने के अभाव से बंध भी स्वप्नपदार्थ के तुल्य विज्ञान मात्र है। इससे अत्यंत मिथ्या होने का बंध में कोई कारण नहीं है। अब इस मत का खण्डन करते हैं–

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ।।४२।।

बाह्य की प्रतीति होने से विज्ञान मात्र नहीं है।।४२।।

विज्ञान मात्र ही तत्त्व नहीं है क्योंकि विज्ञान के समान बाह्य अर्थों की भी प्रतीति होती है।।४२।।

बाह्य प्रतीति होने का हेतु वर्णन करते हैं।

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ।।४३।।

तो उसके अभाव में उसके अभाव से शून्य होगा।।४३।।

जो बाह्य का अभाव मानेंगे तो उसके अभाव मानने में शून्य रहि जायगा विज्ञान भी न रहेगा क्योंकि बाह्य के अभाव होने से विज्ञान के अभाव होने का प्रसङ्ग है हेतु यह कि, जब कुछ ज्ञेय होता है। तब उसका विज्ञान वा ज्ञान होता है विना ज्ञेय विज्ञान नहीं कहा जा सकता। इससे बाह्य के अभाव में विज्ञान के अभाव होने से शून्य ही अर्थात् कुछ न रहना सिद्ध होगा जो यह कहा जावे कि विज्ञान मात्र की सत्यता श्रुति स्मृति में कही हैं। तो श्रुति स्मृति का अभिप्राय केवल पारमार्थिक सत्ता में विज्ञानमय अवस्था में बाह्य के प्रतिषेध करने का है। व्यावहारिक सत्ता सांसारिक दशा में नहीं है।।४३।।

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ।।४४।।

शून्य ही तत्त्व है विनाश के वस्तु धर्म होने से भाव नाश को प्राप्त होता है।।४४।।

शून्य मात्र तत्त्व है क्योंकि सब भाव का नाश होता है और जो विनाशी है वह स्वप्नवत् मिथ्या है। इससे सब वस्तु का आदि अन्त में अभाव मात्र होने व मध्य (वर्तमान) में क्षणिक होने से बंध आदि पारमार्थिक नहीं है तो किसको क्या बंधन है क्योंकि नाश होना वस्तु

का धर्म अर्थात् स्वभाव होने से स्वभाव विरुद्ध पदार्थ नहीं रह सकता इससे नाश धर्म संयुक्त होने से स्वप्नवत् सत् होने का भ्रम मात्र है।।४४।।

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।।४५।।

मूढों का अपवादमात्र है।।४५।।

शून्य का भाव होना व विनाशी होना यह मानना मूढों का अपवादमात्र है अर्थात् मिथ्यावाद है क्योंकि शून्य में प्रमाण अंगीकार करने में प्रमाण अंगीकार करने ही से अभाव की हानि होगी व प्रमाण अंगीकार न करने में प्रमाण के अभाव से शून्य की भी सिद्धि न होगी और नाश के कारण के अभाव से अवयव रहित द्रव्यों का नाश होना संभव न होने से कार्य्यों का भी विनाश सिद्ध नहीं होता। इससे निरवयव शून्य के भाव अंगीकार करने में नाश होना व अभाव सिद्ध नहीं होता और क्षणिक विनाश ही का प्रपंच होना माना जावे तो भी वंध का विनाश ही पुरुषार्थ होना सम्भव होता है क्योंकि वंध क्लेश की इच्छा क्षणमात्र भी कभी नहीं होती सदा वंध व क्लेश रहित होना ही अभीष्ट है।।४५।।

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ।।४६।।

दोनों पक्षों में समानक्षेम होने से यह भी।।४६।।

दोनों पक्षों में अर्थात् क्षणिक व ब्रह्मविज्ञान में समान क्षेम होने से अभिप्राय यह है कि दोनों में खण्डन के हेतु एक ही सम होने से यह भी अर्थात् विज्ञान मात्र का पक्ष भी खंडित होता है, क्षणिक पक्ष के निरास (खण्डम्) हेतु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध होने आदि शून्यवाद में भी समान हैं। तथा विज्ञान मात्र पक्ष के निरासके हेतु बाह्य की प्रतीति आदि शून्यवाद में समान हैं इससे दोनों पक्षों का समान विनाश है।।४६।।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ।।४७।।

दोनों प्रकार से पुरुषार्थ न होना।।४७।।

दोनों प्रकार से अपने से व परसे शून्यता का पुरुषार्थ होना संभव नहीं होता स्थिर सुख आदिकों का पुरुषार्थ होना संभव है। बंध कारण

विषय में इस प्रकार से क्षणिकवादी व नास्तिक मतों को दूषित किया है। अब अन्य बंध कारणों का जिनका पूर्व ही खण्डन नहीं किया उनका प्रतिषेध किया जाता है।।४७।।

न गतिविशेषात् ।।४८।।

गति विशेष से नहीं है।।४८।।

जो यह कहा जावे कि जीव के गमन आगमन की गति विशेष से पुरुष का बंध है तो गति विशेष शरीरप्रवेश आदि रूप से पुरुष का बंध नहीं है।।४८।। गति न होने का हेतु वर्णन करते हैं–

निष्क्रियस्य तदसंभवात् ।।४९।।

क्रिया रहित को वह असंभव होने से।।४९।।

क्रिया रहित विभु अर्थात् व्यापक व निरवयव पुरुष की गति संभव नहीं है। गति असंभव होने से गति विशेष कहना पुरुष में नहीं हो सकता।।४९।।

अब यह शंका है कि श्रुति स्मृति में इस लोक व परलोक में गमन व आगमन सुना जाता है। इससे पुरुष परिच्छिन्न व सावयव हैं निरवयव व विभु नहीं है। उत्तर–

मूर्तत्वाद्घटादिवत्समानधर्मापत्तावपि सिद्धान्तः ।।५०।।

मूर्त होने से घट आदि के तुल्य, समान धर्म प्राप्त होने में विरुद्ध सिद्धांत होगा।।५०।।

जो पुरुष परिच्छिन्न मूर्तिमान् अंगीकार किया जावे तो क्या घट आदि मूर्तिमान् अवयव संयुक्त होने से नाश को प्राप्त होते हैं। तथा समान धर्म होने से पुरुष का भी नाश होगा और यह विरुद्ध सिद्धांत होगा इससे यह मानने योग्य नहीं है।।५०।।

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।।५१।।

उपाधि के योग से आकाश के सदृश गति अर्थ में श्रुति है।।५१।।

जो श्रुति पुरुष के गति अर्थ में है वह उसमें उपाधियोग से गति अर्थ का वर्णन है। यथा आकाश सर्वव्यापक है उसमें गति का अभाव है परंतु

उपाधि से घट के भीतर जो आकाश देख पड़ता है। घट चलाने से यह जान पड़ता है कि उसके भीतर जो आकाश है वह भी घट के साथ जाता है अर्थात् चलता है अथवा घट के लाने से घट के साथ आता है। यद्यपि घटमात्र चलता हैं आकाश नहीं चलता आकाश व्यापक निरवयव है सर्वत्र देख पड़ता है इसी प्रकार से उपाधिवश शरीर आदि द्वारा पुरुष में गति श्रुति में कहा है। प्रकृति क्रियारूपा है उसमें घट की तुल्य गति का आरोपण होता है।।५१।।

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ।।५२।।

कर्म करके भी नहीं उसका धर्म होने से।।५२।।

अदृष्टकर्म से भी पुरुष का बंध नहीं है क्योंकि उसका अर्थात् पुरुष का धर्म नहीं है जो पुरुष का धर्म नहीं है उसको पुरुष का बंध नहीं हो सकता पूर्व में विहित निषिद्ध व्यापाररूप कर्म करके बंध होने का खण्डन किया गया है। वहां अदृष्ट से होने के भेद से फिर वर्णन किया गया है इससे पुनरुक्त नहीं है।।५२।।

अति प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ।।५३।।

अन्य के धर्म होने में अतिप्रसक्ति होगी।।५३।।

बंध व बंधकारण भिन्न के धर्म होने में अतिप्रसक्ति दोष होगा जिसमें प्रसंग न हो उसमें भी प्रसंग मानना अतिप्रसक्ति वा अतिप्रसंग दोष कहा जाता है। अतिप्रसक्ति दोष से अर्थात् अन्य के कर्म से अन्य को बिना नियम बंध होना मानने से मुक्त का भी बंध हो जायगा यह मानने योग्य नहीं है।।५३।।

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।।५४।।

और निर्गुण आदि श्रुति का विरोध होगा।।५४।।

बंध हेतु परीक्षा की समाप्ति में यह कहा है कि पूर्वोक्त हेतु से किसी प्रकार पुरुष का बंध होना सिद्ध नहीं होता और विशेष हेतु यह है कि निर्गुण आदि श्रुति का विरोध है पुरुष बंध औपाधिक न मानने में श्रुति का विरोध होता है।।५४।। श्रुति यह है–

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" ॥

अर्थ–साक्षी चेतन केवल निर्गुण है इत्यादि श्रुति के विरोध से पुरुष में स्वाभाविक बंध नहीं है सूत्र में इति शब्द बंध हेतु की परीक्षा की समाप्ति का सूचक है।।

तद्योगोप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥५५॥

उसका योग भी अविवेक से होने से समानत्व नहीं है॥५५॥

जो शंका करनेवाला यह शंका करे कि, प्रकृति पुरुष के संयोग से जो पुरुष का बंध होता है वही स्वाभाविक माना जावे तो स्वाभाविक मानने में जो दोष पुरुष में स्वाभाविक बंध मानने अथवा काल आदि के निमित्त से मानने में मुक्त का भी बंध होना सिद्ध होता है। जैसा पूर्व ही कहा गया है इसमें भी समान दोषों की प्राप्ति होगी इसके उत्तर में यह सूत्र है कि उसका अर्थात् प्रकृति का योग जो पुरुष में है वह स्वाभाविक नहीं है अविवेक निमित्त से है। अविवेक से होने से समानत्व नहीं होता अर्थात् समान दोष होना नहीं हो सकता विवेक होने से अविवेक व बंध का नाश होता है। यह अविवेक मुक्त पुरुषों में नहीं होता। अब यह शंका है कि प्रकृति पुरुष के संयोग से पहिले न होने से अविवेक प्रकृति पुरुष का भेद रहित साक्षात्कार होना नहीं है। विवेक का प्रागभाव है (किसी पदार्थ के उत्पन्न होने वा प्रकट होने से पहिले जो उसका अभाव होता है उसको प्रागभाव कहते हैं) और अविवेक होना यह बुद्धि का धर्म है। पुरुष का धर्म नहीं है अन्य के धर्म से अन्य में संयोग होने से समान अतिप्रसंग दोष की प्राप्ति है उत्तर-दोष की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि विषयता सम्बंध से अविवेक पुरुष का धर्म होना माना जाता है और जब विषय सम्बंध नहीं है सम्बंध के अभाव से प्रलय में बंध का कारण नहीं होता तथा प्रकृति बुद्धिरूप हो जिस पुरुष के लिये विवेक से पृथक् होकर प्रकट नहीं होती उसमें अपनी वृत्ति देखने के अर्थ (लिये) उसी की बुद्धिरूप करके संयोग को प्राप्त होती है। ऐसी व्यवस्था से अतिप्रसंग दोष का अभाव होता है जो यह संशय हो कि धर्माधर्म कर्मबंध के कारण मानना चाहिये तो उत्तर यह है कि, अविवेक ही से राग आदि व

कर्म का सम्बंध होता है। इससे अविवेक को मुख्य बंध का कारण माना है।।५५।।

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ।।५६।।

नियत कारण से उसका नाश अंधकार के समान होता है।।५६।।

यथा अंधकार केवल प्रकाश से जो उसके नाश का नियत कारण है नष्ट होता है। तथा नियत कारण विवेक से उसका अर्थात् अविवेक का नाश होता है।।५६।।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ।।५७।।

प्रधान के अविवेक से अन्य के अविवेक की प्राप्ति है व उसके नाश होने में नाश है।।५७।।

पुरुष में आदि कारण प्रधान का अविवेक है प्रधान के अविवेक से अन्य के अविवेक अर्थात् बुद्धि आदिकों के अविवेक की प्राप्ति होती है और प्रधान के अविवेक का नाश होने से अन्य के अविवेक का नाश होता है। यथा शरीर से आत्मा भिन्न है यह ज्ञान होने में, शरीर के कार्य जो रूप आदिक हैं। उनमें अविवेक होना संभव नहीं होता तथा प्रधान से पुरुष के पृथक् होने के ज्ञान होने में प्रधान के कार्य परिणाम आदि धर्मवाले बुद्ध्यादिकों में अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् कारण के नाश होने से जैसे जिस पट में चित्र है उस पट के त्याग से चित्र का त्याग हो जाता है। इसी प्रकार से प्रकृति के कार्य बुद्धि आदिकों में अभिमान का त्याग हो जाता है।।५७।।

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ।।५८।।

चित्त में स्थिति होने से कथनमात्र है तत्त्व नहीं है।।५८।।

बंध आदि का स्थान चित्त है बंध आदि की सब के चित्त में स्थित होने से पुरुष में बंध आदि होना तत्त्व (यथार्थ) नहीं है केवल कथनमात्र है। यथा स्फटिक का लाल होना प्रतिबिंब मात्र से है तत्त्व नहीं है। इसका विशेष वर्णन आगे ग्रंथ में किया है इससे यहां विशेष वर्णन नहीं किया।।५८।।

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ।।५९।।

दिशाभ्रम को प्राप्त के समान मनन से भी विना साक्षात्कार हुये बाधा को नहीं प्राप्त होता है।।५९।।

यद्यपि कथनमात्र पुरुष को बंध आदिक हैं तथापि विना साक्षात्कार हुये श्रवण मनन मात्र से बाधा को नहीं प्राप्त होता अर्थात् नहीं छूटता जैसे जिसको दिशा भ्रम होता है उसको यद्यपि कथन मात्र दिशा का विपरीत होना होवे तत्त्व में न होवे तथापि विना साक्षात्कार हुये श्रवण व युक्ति से भ्रम नहीं छूटता।।५९।।

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।।६०।।

अप्रत्यक्ष पदार्थों का अनुमान से बोध होता है यथा धूम आदि से अग्नि का होता है।।६०।।

जो यह शंका हो कि, स्थूल पदार्थ तो नेत्र से देखने से प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। सूक्ष्म पुरुष प्रधान आदि का बोध किस प्रकार से होता है। इसके उत्तर में यह कहा है कि जो अचाक्षुष हैं अर्थात् चक्षु से दृश्य नहीं हैं अप्रत्यक्ष हैं उनका बोध अनुमान करके वा अनुमान से होता है। यथा धूम से अग्नि का बोध होता है। अब अप्रत्यक्ष पदार्थ जो कारणरूप हैं व अनुमान से जानने के योग्य हैं उनके कार्यरूप पदार्थों को वर्णन करते हैं।।६०।।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्महतोऽहं-कारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूल-भूतानि पुरुषइति पंचविंशतिर्गणः ।।६१।।

सत्त्वरजतम गुणों की सम होने की जो अवस्था वह प्रकृति है प्रकृति से महत्तत्व होता है महत्तत्व से अहंकार अहंकार से उसके पांच मात्रा व दो प्रकार की इन्द्रियां उसके मात्रों से पांच स्थूलभूत व पुरुष यह पचीस गण हैं।।६१।।

सत्व, रज, तम, गुणों की सम होने की जो अवस्था है वह प्रकृति है। प्रकृति कारण से महत्तत्त्व कार्य होता है तथा महत्तत्त्व से अहंकार

अहंकार से पांच उसके मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध व दो प्रकार की इन्द्रियां दश बाह्य इन्द्रिय व ग्यारहवां अन्तर इन्द्रिय मन दश बाह्य इन्द्रिय में पांच ज्ञान इन्द्रिय कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका व पांच कर्म इन्द्रिय हस्त, पाद, पायु, गुदा, उपस्य, (लिंग वा योनि) वाक् पांच उसके मात्रा कारणों से पांच स्थूलभूत, आकाश, वायु, तेज, जल व पृथिवी कार्य होते हैं। चौबीस यह व पुरुष यह पचीस गण हैं अर्थात् यह पचीस पदार्थ हैं, गुण कर्म सामान्य सब इन्हीं के अंतर्गत हैं।।६१।।

स्थूलात्पंचतन्मात्रस्य ।।६२।।

स्थूल से पांच उसके मात्र का।।६२।।

आकाश, वायु, जल, तेज, पृथिवी की स्थूलभूत संज्ञा है इन पांच स्थूलभूत कार्य से उसके अर्थात् अहंकार के पांच मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध कारणरूपों का अनुमान होता है यह सूत्र का भावार्थ है। विभाग इनका यह है कि, आकाश सें शब्द का, वायु से स्पर्श का, तेज से रूप का, जल से रस का, पृथिवी से गंध का, अनुमान होता है। आकाश से शब्द का अनुमान इससे होता है कि, जिस स्थूल द्रव्य में आकाश अधिक होता है उसमें शब्द अधिक होता है जिसमें न्यून है उसमें न्यून होता है यथा ढोल में आकाश होने के कारण से शब्द होता है और वही ढोल के भीतर के आकाश में मृत्तिका आदि भर देने से वैसा शब्द नहीं होता जो कुछ शब्द होता है उसका कारण यह है कि सर्वथा आकाश रहित कोई स्थूल पदार्थ नहीं हो सकता। जो आकाश न होवे तो धातु काष्ठ आदि में कील आदि गड़ न सकें न जिसमें कील प्रवेश करने में कील प्रवेश करता है। उसके परमाणु दब सकें कि जिससे कील के प्रवेश करने को आकाश मिले वायु से स्पर्श के अनुमान होने का हेतु यह है कि आकाश में स्पर्श शून्य होने से स्पर्श का बोध नहीं होता सबसे सूक्ष्म जिसमें प्रथम स्पर्श का बोध होता है वह वायु है। स्पर्श का आदि कार्य वायु है इससे वायु स्पर्श के अनुमान का हेतु है और जो जिससे स्थूल है उसमें उससे जो सूक्ष्मभूत है उसका गुण मिला रहता है यथा वायु आकाश से स्थूल है। इसमें आकाश जो इससे सूक्ष्म है उसका गुण शब्द

मिला रहता है अर्थात् वायु में स्पर्श विशेष गुण है परंतु आकाश से भिन्न वायु के न होने से शब्द भी वायु में होता है तेज से रूप का अनुमान इससे होता है कि, विना तेज रूप का बोध नहीं होता अर्थात् शब्द स्पर्श रस गंध आकाश आदिक गुणों से रूप का बोध नहीं होता तेज ही से रूप का प्रत्यक्ष होता है। जल से रस अर्थात् स्वादु के अनुमान होने का हेतु यह है कि आकाश वायु तेज में स्वादु नहीं है यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है जल में मीठा खारा स्वादु होने का बोध होता है और मीठे खट्टे आदि जे फल हैं। वह जब तक आर्द्र अर्थात् ओदे रहते हैं तब तक स्वादु अच्छा रहता है जब सूख जाते हैं तब वैसा स्वादु नहीं रहता जो यह कहा जावे कि, पृथिवी में स्वादु गुण है और बहुत फलों में सूखने में भी स्वादु रहता है तो सूखे व बेसूखे में सब फल व अन्य स्वादिष्ठ पदार्थों में तुल्य स्वादु होना चाहिये क्योंकि सूखे व न सूखे में जल की न्यूनता व अधिकता होती है। पृथिवी की नहीं होती इसमें जल की विशेषता है परंतु पृथिवी में भी स्वादु गुण है क्योंकि यह प्रथम ही कहा गया है कि, जो अधिक स्थूल है वह अपने से जो सूक्ष्म भूत है उसके गुण संयुक्त होता है। इसी से वायु में शब्द स्पर्श कहा गया है तेज में शब्द स्पर्श रूप तीन हैं जल में शब्द स्पर्श रूप रस चार हैं व पृथिवी में शब्द स्पर्श रूप रस गंध पांच हैं गंध पृथिवी का विशेष गुण है वायु तेज, जल में गंध स्वाभाविक होना सिद्ध नहीं होता वायु तेज जल में जो गंध का बोध होता है। वह पुष्प वा अन्य गंधवान् पदार्थ के संयोग से होता है इससे पृथिवी स्थूल कार्य से सूक्ष्म कारण रूप गंध का अनुमान होता है जो यह शंका हो कि, जो पृथिवी में गंध है तो पृथिवी के कार्यरूप पत्थर में क्यों गंध का बोध नहीं होता तो उत्तर यह है कि स्थूल कठिन व दृष्ट होने से वायु के द्वारा उसके अणु नासिका के अंतर्गत नहीं होते न वायु में उड़ सकते हैं। उसके अतिचूर्ण करने वा भस्म करने से वायु द्वारा उड़ के उसके अणु नासिका में अंतर्गत होने से गंध का बोध होता है इससे दूषण नहीं हो सकता।।६२।।

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ।।६३।।

बाह्य व अंतरों से व उनसे अहंकार का।।६३।।

कार्यरूप बाह्य व अंतर के इन्द्रियों से अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा व उनसे अर्थात् उक्त पांच मात्रों के द्वारा इनके कारण अहंकार का अनुमान होता है अर्थात् अहंकार अभिमानवृत्ति के अंत:करण द्रव्य है जिसमें मैं स्पर्श करता हूँ देखता हूं मेरे नेत्र मेरा शरीर इत्यादि यह बोध होता है। इन्द्रियों व मात्रों से कर्ता को मैं ऐसा कर्ता हूं यह व यह मेरा है यह बोध होता है इससे इन्द्रिय व मात्रों के द्वारा अहंकार का अनुमान होता है।।६३।।

तेनान्त:करणस्य ।।६४।।

उससे अंत:करण का।।६४।।

उससे अर्थात् उक्त अहंकार कार्य से अथवा अहंकार कार्य के द्वारा मुख्य अंत:करण का अर्थात् महत्तत्त्व नामक बुद्धि का अनुमान होता है विना बुद्धि अहंकार का होना संभव नहीं होता क्योंकि निश्चय बुद्धि की वृत्ति है व अभिमान अहंकार की वृत्ति है और अहंकार निश्चय वृत्ति पूर्वक होता है। लोक में प्रथम स्वरूप निश्चय करके पश्चात् अभिमान होता है कि, यह मैं हूं हम करके यह करने के योग्य है यह सिद्ध है। अहंकार द्रव्य के कारण की आकांक्षा में अभिमान व निश्चय वृत्तियों के कार्य कारण भाव होने से उनके आश्रयों का भी अर्थात् अहंकार व बुद्धि का भी कार्य कारण भाव कल्पना किया जाता है क्योंकि कारण वृत्ति के लाभ के साथ ही कार्य वृत्ति लाभ होने का सम्बंध है अर्थात् कारण वृत्ति की रहित कार्य उपलब्धि नहीं होती। यद्यपि अंत:करण एक ही है परंतु वृत्तिभेद से भिन्न नाम भेद से कहा जाता है चिंता वृत्ति के चित्त व अहंकार दोनों बुद्धि के अंतर्भाव हैं।।६४।।

तत: प्रकृते: ।।६५।।

उससे प्रकृति का।।६५।।

उससे अर्थात् महत्तत्त्व कार्य से अनुमान द्वारा कारण प्रकृति का बोध होता है क्योंकि सामान्य अंत:करण का भी एक समय में पंच इन्द्रियों का ज्ञान उत्पन्न न होने से देह आदि की तुल्य मध्यम परिमाण व नाश धर्म संयुक्त कार्य होना सिद्ध होता है। सुख दु:ख मोह धर्मिणी बुद्धि है

कार्यरूप बुद्धि का विना कारण उत्पन्न होना संभव नहीं होता क्योंकि कारण रहित कार्य नहीं होता व कारण गुण के अनुसार कार्य गुण होना उचित है। इससे सुख दु:ख मोह धर्म के कारण जो प्रकृति शब्द से वाच्य है उससे महत्तत्त्व नामक बुद्धिकार्य के उत्पन्न होने का अनुमान होता है और बुद्धि कार्यरूप बोधगत होने से उससे उसके कारण प्रकृति का अनुमान होता है यह भाव है, प्रकृति का विशेष वर्णन आगे किया जायगा।।६५।।

संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य ।।६६।।

आरंभक संयोग पर के अर्थ होने से पुरुष का।।६६।।

आरंभक संयोग अवयव अवयवी भेद न होने से साधारण प्रकृति का कार्य है प्रकृति व प्रकृतिकार्य्यों का पर के अर्थ होने के अनुमान से पुरुष का बोध होता है। प्रकृति महत्तत्त्व आदि का अपने से भिन्न शय्या आसन आदि की तुल्य पर के भोग अपवर्ग फल देनेवाले संहत अर्थात् आरंभक संयोग करने से अनुमान करके प्रकृति से पर आरंभक संयोग रहित पुरुष सिद्ध होता है। पुरुष का भी संहत होना मानने में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी पुरुष के मानने ही कीं क्या आवश्यकता है जो यही माना जावे कि प्रकृति आदि अपने सुख भोग के अर्थ संहत किया है तो उसके साक्षात् अपने जानने योग्य पदार्थ में कर्मकर्ता का विरोध होगा क्योंकि प्रकृति स्वयं ज्ञानरूप नहीं है। पुरुष के योग से प्रकृति में बुद्धि उत्पन्न होती है विना स्वयं प्रकाशमान् व ज्ञान धर्मवान् होने के मैं सुखी हूं यह सुखज्ञान होना संभव नहीं होता स्वयं यह बोध करनेवाला जो है वह पुरुष है। इसका विशेष भेद आगे वर्णन किया जायेगा अब प्रथम प्रकृति के नित्य होने व सब के कारण होने के विषय में वर्णन किया जाता है।।६६।।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ।।६७।।

मूल में मूल के अभाव से मूल रहित मूल है।।६७।।

पुरुष को छोड़ के प्रकृति सहित चौबीस तत्त्व हैं प्रकृति से इतर जे २३ तेईस तत्त्व हैं। उन सबका मूल प्रधान है अर्थात् प्रकृति है प्रधान का

मूल कुछ नहीं है। इससे मूल प्रधान में मूल का अभाव है अभाव होने से मूल रहित मूल है अर्थात् प्रधान मूलरहित है जो प्रधान का भी मूल माना जाय तो इसी प्रकार से एक एक का मूल मानने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी जो यह कहा जाय कि प्रकृति मूल कारण नहीं है अविद्या संसार का मूल कारण है तो इसका उत्तर यह है।।६७।।

पारम्पर्य्येप्येकत्र परिनिष्ठेतिसंज्ञामात्रम् ।।६८।।

परम्परा होने में एक में परिनिष्ठा होगी प्रकृति यह संज्ञामात्र है।।६८।।

अविद्या द्वारा परम्परा करके पुरुष के जगत् के मूल कारण होने में भी पुरुष के परिणामी न होने से अविद्या में अथवा किसी एक नित्य जगत् कारण में परम्परा की परिनिष्ठा अर्थात् पर्य्यवसान् होगा। जिसमें पर्य्यवसान (सबका अंत) होगा वही नित्य प्रकृति है अर्थात् मूल कारण की प्रकृति संज्ञा है इससे प्रकृति शब्द यह संज्ञा मात्र है।।६८।।

समानःप्रकृतेर्द्वयोः ।।६९।।

प्रकृति के विचार में दोनों का समान पक्ष है।।६९।।

विचार में व पक्ष ये शब्द सूत्र के अर्थ में सूत्र के शब्द से भाषा में अधिक कहे गये हैं व अधिक कहने का हेतु यह है कि, सूत्र के शब्दों मात्र का भाषा में अनुवाद करने से सूत्र का भाव व्यक्त न होता प्रकृति के विचार में अर्थात् प्रकृति के मूल कारण होने के विचार करने में दोनों का अर्थात् वादी व प्रतिवादी दोनों का समान पक्ष है जब जिसमें परंम्परा का पर्य्यवसान होवे वही प्रकृति है यह कहा गया तो अविद्या के मूल कारण मानने में भी पक्ष भेद नहीं रहता पक्ष भेद न रहने से दोनों का समान पक्ष है जो यह कहा जाय कि अविद्या पचीस गणों में नहीं कहा इससे पचीस से अधिक तत्त्व मानना चाहिये तो अविद्या मिथ्याज्ञानरूप बुद्धि धर्म है व बुद्धि प्रकृति का कार्य है। इससे अविद्या प्रकृति व बुद्धि के अंतर्गत है अथवा ज्ञान का अभाव मात्र है इससे अधिक तत्त्व नहीं है (प्रश्न) कहीं प्रकृति का भी पुरुष से उत्पन्न होना सुना जाता है। इससे प्रकृति मूल कारण नहीं है (उत्तर) प्रकृति का

पुरुष संयोग से जगत् उत्पत्ति में समर्थ होना रूप प्रगट होना गौण उत्पत्ति वर्णन करने से प्रयोजन है। संयोग लक्षणरूप उत्पत्ति को कहा है।।६९।। जो प्रकृति पुरुष अनुमान से जाने जाते हैं तो सब ही को क्यों विवेक मनन से उत्पन्न नहीं होता उत्तर–

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।७०।।

अधिकारी के त्रिविध होने से नियम नहीं है।।७०।।

मन्द, मध्यम, उत्तम तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं अधिकारियों के त्रिविध होने से सबको मनन करने का नियम नहीं है। क्योंकि मन्द जो कुतर्क युक्ति से अनुमान करता है वह ग्रहण योग्य नहीं होता मध्यम भी सत् पक्ष का यथार्थ ग्रहण नहीं कर सकता इससे केवल उत्तम अधिकारियों को इस प्रकार का मनन होता है। यह भाव है प्रकृति का स्वरूप गुणों का सम भाव होना पूर्व ही वर्णन किया गया है व सूक्ष्म भूतआदिक प्रसिद्ध हैं अब रहे महत्तत्त्व अहंकार इन दोनों का स्वरूप वर्णन करते हैं।।७०।।

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।।७१।।

महत्तत्त्व नाम से जो आदि कार्य है वह मन है।।७१।।

प्रकृति का आदि कार्य अर्थात् प्रथम कार्य महत्तत्त्व है महत्तत्त्व मनन वृत्ति युक्त मन है मनन का यहाँ निश्चय अर्थ है, निश्चय करनेवाली बुद्धि वृत्ति मन है यह अर्थ है।।७१।।

चरमोऽहङ्कारः ।।७२।।

उसके पश्चात् अहङ्कार है।।७२।।

उसके अर्थात् मन के पश्चात् अभिमान वृत्ति संयुक्त जो कार्य है वह अहंकार है।।७२।।

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ।।७३।।

उसका कार्य होना उत्तर वालों का।।७३।।

उत्तरवाले जो अहंकार के पश्चात् पांच मात्रा आदि कहे गये हैं उन सबों का उसका अर्थात् अहंकार का कार्य होना सिद्ध होता है अर्थात् सब अहंकार के कार्य हैं।।७३।।

आदिहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्य्येप्यणुवत् ।।७४।।

आद्य की हेतुता उसके द्वारा परम्परा भाव में भी अणु के तुल्य है।।७४।।

जो आदि में सबके प्रथम होवे वह आद्य है वह आद्य प्रकृति है परम्परा भाव में भी अर्थात् साक्षात् हेतु न होने में भी आद्य प्रकृति की हेतुता अहंकार अनादि में महत्तत्त्व के द्वारा है यथा वैशेषिक मत में अणु समूह की घटआदि हेतुता व्द्यणुक आदि के द्वारा ही होती है।।७४।। प्रश्न–जब प्रकृति पुरुष दोनों नित्य हैं तब केवल प्रकृति के कारण होने में क्या हेतु है? उत्तर–

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ।।७५।।

दोनों के पूर्व में होने में एक के हान होने में अन्यका योग है।।७५।।

पुरुष व प्रकृति दोनों के सम्पूर्ण कार्य के पूर्व होने में भी एक के कारण होने के हान (अभाव) होने से अर्थात् पुरुष के परिणामी न होने से (रूपांतर को न प्राप्त होने सदा एक रूप रहने से) कारण होने के अभाव होने से अन्य जो प्रकृति है उसका कारण होने में योग है अर्थात् प्रकृति ही का कारण होना मानना उचित है। प्रकृति का स्वामी होने से पुरुष सृष्टि का कारण होना कहा जाता है। यथा योद्धा रण में लड़कर जय पराजय को प्राप्त होते हैं। राजा युद्ध करे वा न करे उनके स्वामी राजा का जय व पराजय कहा जाता है। प्रकृति के फल सुख दुःख का भोग करने वाला पुरुष है इससे प्रकृति का स्वामी कहा जाता है। पुरुष के परिणामी न होने का हेतु यह है कि, जो पुरुष का परिणामित्व होता तो यथा चक्षु मन आदि विकार व बंध में प्राप्त हो कभी विद्यमान रूपआदि विषय को ग्रहण नहीं करते अथवा यथार्थ भाव से ग्रहण नहीं करते इसी प्रकार से कभी विद्यमान सुख दुःख आदि को पुरुष न जानता व मैं सुखी हूं अथवा नहीं हूँ। ऐसा संशय होता परंतु ऐसा नहीं होता इससे सदा ज्ञान प्रकाशरूप पुरुष का परिणामी न होना सिद्ध होता है जो परिणाम रहित है वह उपादान कारण नहीं हो सकता इससे प्रकृति ही का सृष्टि का उपादान कारण होना सिद्ध होता है।।७५।।

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ।।७६।।

सब का उपादान परिच्छिन्न नहीं है।।७६।।

जो व्यापक न हो किसी देश विशेष में हो मूर्तिमान् हो उसको परिच्छिन्न कहते हैं। सब तत्त्वों का उपादान कारण जो प्रकृति है वह परिच्छिन्न नहीं है अर्थात् व्यापक है यह भाव है। शंका–प्रकृति का व्यापक होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रकृति त्रिगुण से भिन्न नहीं हैं। सत्त्वगुण आदि में लघु होना गुरु होना चलना यह धर्म हैं। इनका वर्णन आगे किया जायगा यह धर्म विभु होने अर्थात् व्यापक होने में न हो सकेंगे और सृष्टि आदि के हेतु संयोग विभाग न होंगे। उत्तर–यथा प्राण व्यक्तियों के सब देहों में सम्बंध होने से सामान्य से प्राण का स्थावर जंगम अखिल शरीर में व्यापक होना कहा जाता है। तथा प्रकृति का व्यापक होना कहा जाता है। जो किसी देश में हो सब देश में न हो उसको परिच्छिन्न व जो सर्वत्र हो उसको व्यापक कहते हैं। प्रकृति सर्वत्र है किसी एक देश मात्र में नहीं है इससे प्रकृति व्यापक कही गई है जैसे शरीर देश में सर्वत्र प्राण सम्बंध होने से प्राण सब शरीर में व्यापक कहा जाता है। प्रकृति के क्रिया व संयोग वियोग आदि के साधर्म्य वैषम्य विषय में आगे वर्णन किया जायगा।।७६।।

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ।।७७।।

उनकी उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुति होने से भी।।७७।।

उनकी अर्थात् परिच्छिन्नों की उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुति होने से भी प्रकृति का परिच्छिन्न होना सिद्ध नहीं होता श्रुति में कहा है "यदल्पं तन्मर्त्यम्" इत्यादि अर्थ–जो अल्प है वह मरने योग्य वा मरनेवाला है मरण धर्म के होने से परिच्छिन्न वा अल्प की उत्पत्ति सिद्ध होती है।।७७।। जो यह शंका हो कि प्रकृति के मानने की क्या आवश्यकता है। विना प्रकृति कारण के सृष्टि का होना मानना चाहिये इसके उत्तर में यह कहा है–

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।।७८।।

अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती।।७८।।

अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती। अर्थात् अभाव से भाव की सिद्धि नहीं होती। अभिप्राय यह है कि जो यह कहे कि कुछ नहीं था अभाव से संसार उत्पन्न हुआ तो यह कहना यथार्थ नहीं जैसे आकाश के फूलों से हार बनना संभव नहीं है। इसी प्रकार से अभाव से सृष्टि का होना संभव नहीं है जो यह कहा जावे कि, स्वप्न के तुल्य जगत् अवस्तु है। अर्थात् कुछ वस्तु नहीं है मिथ्या है इसके उत्तर में यह सूत्र है॥७८॥

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥७९॥

बाधा न होने से व दुष्टकारण से उत्पन्न न होने से अवस्तु का होना सिद्ध नहीं होता॥७९॥

वस्तु के होने में किसी प्रमाण से बाधा न होने से व दुष्टकारण से वस्तु होने का बोध उत्पन्न न होने से अर्थात् जैसे दुष्ट इन्द्रिय जो विकारसंयुक्त है उससे शुक्ल शंख में पीत होने का बोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार से दुष्ट कारण से जगत् के होने का बोध न होने से किन्तु यथार्थ प्रमाण व अनुमान से सिद्ध होने से अवस्तु होने का प्रमाण नहीं होता॥७९॥

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥८०॥

भाव में उसके योग से उसकी सिद्धि है अभाव में उसके अभाव से कहां से उसकी सिद्धि है॥८०॥

भाव में अर्थात् कारण के सत् होने में उसके सत्ता के योग से उसकी सिद्धि है अर्थात् कार्य की सिद्धि होती है। कारण के अभाव में कारण के अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है। विना कारण कहाँ से उसकी अर्थात् कार्यरूप जगत् की सिद्धि होती है। अर्थात् कहीं से वा किसी प्रकार से नहीं हो सकती॥८०॥

न कर्मणा उपादानत्वायोगात् ॥८१॥

कर्म से नहीं उपादान होने के योग न होने से॥८१॥

जो यह कहा जावे कि प्रधान के कल्पना करने की कुछ आवश्यकता

नहीं है। कर्म जगत् की उत्पत्ति का कारण है इसके उत्तर में यह सूत्र है कि कर्म से भी वस्तु होने की सिद्धि नहीं होती क्योंकि कर्म निमित्तकारण है। मूल कारण अर्थात् उपादान कारण होना कर्म का सिद्ध नहीं होता गुणों का द्रव्य के उपादान होने में योग नहीं है। द्रव्य के उपादान होने में कर्म का योग न होने से कर्म से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती पुरुष का परिणामी न होना व प्रकृति का परिणामी होना वर्णन करके अब पुरुषार्थ विषय में वर्णन करते हैं।।८१।।

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्ति-
योगादपुरुषार्थत्वम् ।।८२।।

वैदिक कर्म से भी उसकी सिद्धि नहीं है साध्यकर्म होने पर भी फिर आवृत्ति के योग से पुरुषार्थ होना नहीं है।।८२।।

लौकिक कर्म से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता व वैदिक (वेदविहित) जो यज्ञ आदि कर्म हैं उनसे भी उसकी अर्थात् पूर्वोक्त पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं है क्योंकि वैदिक कर्म जो साध्य हैं। उनके करने पर भी फिर आवृत्ति अर्थात् फिर प्रवृत्ति व दुःख सम्बंध होता है। इससे उक्त अत्यंत पुरुषार्थ का अभाव है कर्मफल के अनित्य होने में यह श्रुति है "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते" इति।

अर्थ—यथा इस संसार में कर्म से संचित धन धान्य आदि पदार्थ क्षय को प्राप्त होते हैं। तथा परलोक में पुण्य यज्ञ आदि कर्म करके संचित व प्राप्त हुये सुख भोग लोक भी क्षय को प्राप्त होते हैं। इससे यज्ञ आदि कर्मों से भी अत्यंत पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं है।।८२।।

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ।।८३।।

तिसमें विवेक प्राप्त होने के लिये अनावृत्ति प्रतिपादक श्रुति है।।८३।।

तिसमें अर्थात् वैदिक कर्म में जो अनावृत्ति प्रतिपादक श्रुति है अर्थात् फिर न पतित होने के अर्थ में है। वह केवल प्राप्त विवेक के लिये है। अर्थात् जिसको विवेक प्राप्त हुआ है उसी के लिये वह श्रुति है इसका विशेष वर्णन छठवें अध्याय में किया जायगा।।८३।।

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ।।८४।।

दुःख से दुःख होता है जल अभिषेक के तुल्य जाड्य विमोक नहीं होता।।८४।।

जाड्य विमोक शब्द का अर्थ जाड़े से जो दुःख होता है उसका छूटना अथवा उससे छूटना है। दुःख से दुःख कहने का अभिप्राय यह है कि सांसारिक वैषयिक कर्म से वा वैदिक यज्ञ आदि कर्म से जिसका दुःखात्मक व अनित्य विषय भोगफल है व अंत में दुःखपरिणाम है। इन दुःखरूप कर्मों से दुःख ही होता है। विना विवेक दुःख दूर नहीं होता जैसे जल सींचने से जाड़े से जो दुःखित है उसको दुःख ही होता है, जाड़े का दुःख उसका निवृत्त नहीं होता।।८४।।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ।।८५।।

काम्य अकाम्य में भी साधन योग्यकर्म होने के विशेष न होने से अर्थात् एक ही समान होने से।।८५।।

जो कर्म काम्यनाम कर्तव्य है व जो कर्तव्य नहीं है सबके दुःखरूप होने से दुःख ही होता है। क्यों दुख होता है? जो साधन योग्य है उसके विशेष न होने से जैसा इस श्रुति में कहा है "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" अर्थ—न कर्म से न प्रजा से न धन से मोक्ष को प्राप्त हुये त्याग करके वा त्याग से कोई एक मोक्ष को प्राप्त हुये हैं अभिप्राय यह है कि, कर्म प्रजा धन से मोक्ष की प्राप्ति नहीं है त्याग करके अर्थात् अभिमान त्याग करके कोई मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, अभिमान त्याग करने से भी सब मोक्ष को नहीं प्राप्त हुये विशेष जो तत्त्वज्ञान है। उस दुर्लभ तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके तत्त्वज्ञान से जे अभिमान को त्याग किये हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त हुये हैं अन्य नहीं प्राप्त हुये।।८५।।

निजमुक्तस्य बंधध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ।।८६।।

निजमुक्त का बंध की निवृत्तिमात्र है पर अर्थात् अत्यंत विवेक फल का समान होना नहीं है।।८६।।

निजमुक्त अर्थात् स्वभाव से मुक्त जो पुरुष है उसके अविद्याकारण के

नाश होने से जैसा पूर्व में वर्णन किया गया है। बंध की निवृत्ति मात्र है व परम आत्यन्तिक विवेकज्ञान के फल का, जो मोक्ष नित्य अत्यंत सुखरूप सब दु:ख की निवृत्ति है व कर्मफल का जो अनित्य व दु:खपरिणाम रूप है। दोनों को समान होना संभव नहीं है केवल विवेक ही साक्षात् ज्ञान का उपाय है व ज्ञान के उपयोगी प्रमाण है।।८६।। अब प्रमाण परीक्षा का वर्णन किया जाता है–

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः[१] प्रमा तत्साधकतमं यत्तत्त्रिविधं प्रमाणम् ।।८७।।

जो अर्थ बोधगत नहीं हुआ उसका निश्चय करना चाहे यह निश्चय करने की वृत्ति दोनों अर्थात् बुद्धि व पुरुष का धर्म होवे अथवा एक ही का हो वह प्रमा है उस प्रमा का जो अतिसाधक कारण है वह प्रमाण तीन प्रकार का है।।८७।।

इस प्रमाण के लक्षण में स्मृति से व्यावर्तन (पृथक् करने या दूर करने के लिये बोधगत नहीं हुआ यह शब्द रक्खा है। भ्रम व्यावर्तन के लिये अर्थ शब्द रखा है अर्थ शब्द से यथार्थवस्तु होने से अभिप्राय है। संशय व्यावर्तन के लिये निश्चय करना यह शब्द रखा है और दोनों अथवा एक का धर्म इस अभिप्राय से कहा है कि, पुरुष व बुद्धि दोनों का धर्म माने चाहे एक ही का धर्म माने किसी प्रकार से लक्षण असत् न होवे अर्थात् लक्षण में दोष की प्राप्ति न होवे।।८७।। तीन प्रकार का प्रमाण होना जो कहा है प्रत्येक तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण आगे सूत्रों में वर्णन किया है। तीन ही प्रमाण क्यों कहा है तीन से अधिक प्रमाण सुने जाते हैं इसका समाधान आगे सूत्र में वर्णन करते हैं।

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।।८८।।

उनकी सिद्धि होने में सबकी सिद्धि होने से अधिक की सिद्धि नहीं है।।८८।।

उसके अर्थात् तीन प्रमाण के सिद्ध होने से सब अर्थ की सिद्धि होने से

---

१ असन्निकृष्टार्थ शब्द का अर्थ बोधगत नहीं हुआ व परिच्छित्ति शब्द का अर्थ निश्चय इस सूत्र अनुवाद में समझना चाहिये।

अधिक प्रमाण होने की सिद्धि नहीं है। अभिप्राय यह है कि, तीन से अधिक प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि आदि प्रत्यक्ष के अंतर्गत व उपमान अनुमान के अंतर्गत ऐतिह्य शब्द के अंतर्गत समझे जाते हैं।।८८।।

यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।।८९।।

जो इन्द्रिय के साथ सत् सम्बंध को प्राप्त वस्तु है उसके तदाकार अर्थात् भ्रमविकार रहित तत्स्वरूप धारण करनेवाला जो ज्ञान वा बुद्धिवृत्ति है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।।८९।।

इस प्रत्यक्ष के लक्षण के अनुसार जिस वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्बंध होता है उसका ज्ञान हो सकता है। जिसका इन्द्रिय के साथ सम्बंध नहीं होता उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता लोक में इन्द्रिय सम्बंध रहित पदार्थ का ज्ञान न होना यथार्थ रूप से सिद्ध है। इससे साधारण लौकिक जनों के निमित्त यह लक्षण सत्य है परंतु योगीजनों को जो वस्तु व्यवधान को प्राप्त है अर्थात् किसी पदार्थ के आड़ में है अदृष्ट है जिसका इन्द्रिय के साथ सम्बंध नहीं होता। वह पदार्थ व भूत भविष्यत् काल में हो गये व होनहार जो पदार्थ हैं उन सबका प्रत्यक्ष होता है। योगियों के प्रत्यक्ष में यह लक्षण घटित न होने से अव्याप्ति दोष संयुक्त होना विदित होता है इस आशंका निवारण के अर्थ यह वर्णन किया है।।८९।।

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।।९०।।

योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष करनेवाले होने से दोष नहीं है।।९०।।

अभिप्राय इसका यह है कि, यह लक्षण ऐन्द्रियक ज्ञान के अर्थ है अर्थात् जो इन्द्रियसम्बंधी वा इन्द्रियजन्य ज्ञान है उसके लिये है योगी जनों को जो बाह्यइन्द्रियगोचर पदार्थ नहीं है उसका भी प्रत्यक्ष होता है। इससे योगियों के प्रत्यक्ष में इस लक्षण की प्राप्ति न होने से दोष नहीं है। अथवा जो यह शंका होवे कि विना इन्द्रिय व अर्थ के सम्बंध कहीं प्रत्यक्ष होना विदित नहीं होता तो इसका उत्तर इस सूत्र के अर्थ से यह है कि, तर्क से लौकिक जनों के सामर्थ्य अनुसार जो विना इन्द्रिय द्वारा व इन्द्रिय व अर्थ के सम्बंध हुऐ प्रत्यक्ष नहीं कर सकते यद्यपि सिद्ध न

होवे तथापि विशेष सामर्थ्य से विना बाह्यइन्द्रियन के द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाले योगियों के होने से दोष नहीं है। अर्थात् यह दोष नहीं हो सकता दूसरा सूत्र इसके समाधान में यह है।।९०।।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बंधाद्वा दोषः ।।९१।।

अथवा व्यतीत हुये दूर देश में वर्तमान वस्तुओं में अतिशय सम्बंध को लाभ किये वा प्राप्त हुये योगियों के होने से दोष नहीं है।।९१।।

इसका अभिप्राय यह है कि जो विना इन्द्रिय सम्बंध प्रत्यक्ष होना न माना जावे तो योग से उत्पन्न अतिशय सामर्थ्य से व्यवहित दूर देश में वर्तमान पदार्थ में योगी के चित का सम्बंध घटित होता है। तिससे योगियों के लौकिक सामान्य जनों से विलक्षण विना बाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष प्राप्त करने में दोष नहीं है' 'नहीं है' इस शब्द की अनुवुत्ति पूर्व सूत्र से होती है। यह योगियों के प्रत्यक्ष के समाधान वर्णन करने से यह सूचित किया है कि, लौकिक बुद्धि अनुसार तर्क से सब पदार्थ का प्रमाण व यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता न बाह्य दृष्ट पदार्थ मात्र के ज्ञान को प्राप्त लौकिक जनों के तर्क की प्रतिष्ठा है क्योंकि योगीजनों के प्रत्यक्ष की तुल्य ईश्वर की तर्क से सिद्धि नहीं होती ईश्वर की सिद्धि न होने में भी दोष नहीं है यह आगे सूत्र वर्णन करते हैं।।९१।।

ईश्वरासिद्धेः ।।९२।।

ईश्वर की सिद्धि न होने से।।९२।।

इसमें पूर्व सूत्र से दोष नही है यह अनुवृत्ति आने से ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं है यह पूरा अर्थ भूत को होता है, भाव इसका यह है कि जैसे योगियों को भूत भविष्यत् के व व्यवहित विप्रकृष्ट पदार्थों के ज्ञान होने में यद्यपि प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं होता, व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ऐसा ज्ञान होना सिद्ध नहीं होता तथापि दोष नही है। योग अवस्था विशेष में अतिशय सामर्थ्य होने में सत्य ही है। लोक में बालक के वुद्धि विचार से असंभव होने मे जो पण्डित विद्वान् के ज्ञान में सिद्ध है। उस अर्थ के खण्डित न होने के समान खण्डित व असत्य नहीं हो सकता अर्थात् लौकिक ज्ञान व तर्क से यद्यपि ईश्वर सिद्ध नहीं होता

तथापि ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं है। लौकिक जनों की बुद्धि व तर्क से सिद्ध न होने पर भी योगियों के प्रत्यक्ष के समान सत्य होना मानना चाहिये। ईश्वर का यथार्थ बोधयोग ही अवस्था व ज्ञान विशेष उदय होने में होता है, व आप्त उपदेश से सिद्ध व प्रमाण के योग्य है तर्क आदि से सिद्ध नहीं होता बहुत मनुष्य विना यथार्थ भाव समझे व पूर्वापर के सम्बंध का विचार किये इस सूत्र को व और जो सूत्र आगे वर्णन किये हैं उनको सर्वथा ईश्वर के प्रतिषेध (खण्डन) में समझते हैं। परंतु यह उनका भ्रम मात्र है क्योंकि जो यह कहे कि दोष नहीं है विना इस अनुवृत्ति के ग्रहण किये हुये ईश्वर की सिद्धि न होने से इतने ही सूत्र के अर्थ से ईश्वर के सर्वथा निषेध करने का अर्थ ग्रहण करना चाहिये तो ईश्वर की सिद्धि न होने से इतने कहने से वाक्य की पूर्ति नहीं होती अन्य शब्द की अपेक्षा होना विदित होता है। जो यह कहें कि ईश्वर की सिद्धि न होने में ईश्वर नहीं है वा ग्रहण के योग्य नहीं है, ऐसा कोई क्रिया शब्द का आक्षेप करिके वाक्यार्थ कर लेवेंगे तो ऐसा अर्थ ग्रहण करना सर्वथा अयुक्त है क्योंकि मन से कल्पना करके असंगत अर्थ को ग्रहण करना और जो सम्बंध के ग्रहण के योग्य है उसको त्यागना केवल आग्रह व मूर्खता है और सब शास्त्रों में पूर्व सूत्र से पर सूत्रों में अनुवृत्ति ग्रहण किया जाना व अनुवृत्ति से वाक्य की पूर्ति होना सिद्ध है। इससे शास्त्र की पद्धति व पूर्वापर सम्बंध से युक्त अर्थ व भाव ही यथार्थ ग्रहण के योग्य हैं व अन्य हेतु यह भी विचार करने के योग्य है कि जो सूत्रकार का ईश्वर के निषेध ही करने का प्रयोजन होता तो सूत्र में अभाव शब्द को रचते अर्थात् "ईश्वराभावात्" अर्थ ईश्वर के अभाव से ऐसा कहते हैं। ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं है, यह कहने से यही सिद्ध होता है कि तर्क प्रमाण से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध न होने से दोष नहीं है मुक्त रूपराग आदि दोष रहित पुरुष वा ईश्वर वा आत्मा योगज विशेष ज्ञान से सिद्ध मानने के योग्य है। जो यह शंका होवे कि कार्य कर्त्ता कोई सिद्ध होने से तर्क व प्रमाण से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध होना संभव है सृष्टिकर्त्ता सिद्ध न होने में क्या हेतु है। इस शंका के निवारण के लिये व लौकिक प्रत्यक्ष व प्रत्यक्षमूलक अनुमान व तर्क से ईश्वर सिद्ध न होने के

पक्ष की पुष्टि के लिये हेतु वर्णन करते हैं॥९२॥

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥९३॥

मुक्त व बद्ध व अन्यतर के अभाव से उसकी (ईश्वर की) सिद्धि नहीं है॥९३॥

ईश्वर का मुक्त होना व बद्ध होना व दोनों से पृथक् होना संभव न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। ईश्वर का मुक्त होना वा बद्ध होना दोनों सिद्ध न होने का हेतु आगे सूत्र में कहा है॥९३॥

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥९४॥

दोनों प्रकार से ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता॥९४॥

दोनों प्रकार से सिद्ध न होने से अभिप्राय यह है कि ईश्वर को मुक्त मानने में अभिमान व राग आदि जो प्रकृति के कारण हैं। उनके अभाव से विना प्रयोजन सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर का प्रवृत्त होना असंभव होगा व बद्ध मानने में मूढ पराधीन होने से ऐसी अनेक सौष्ठव व नियम युक्त सृष्टि उत्पन्न करने को समर्थ नहीं हो सकता। अब यह संशय होता है कि जो तर्क से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो ईश्वर प्रतिपादक श्रुतियाँ मिथ्या होंगी इसके उत्तर में यह सूत्र है॥९४॥

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥९५॥

मुक्त आत्मा की प्रशंसा पर अथवा सिद्ध की उपासना पर हैं॥९५॥

कोई श्रुति केवल मुक्त आत्मा जिसको सन्निधिमात्र से ऐश्वर्य सम्बंध है। उसकी प्रशंसा पर व कोई संकल्प पूर्वक सृष्टि उत्पन्न करने की प्रतिपादक अभिमान संयुक्त अनित्य ईश्वर ब्रह्मा विष्णु आदि सिद्धों के गौण नित्यत्व वर्णन करने व उनके उपासना पर हैं। अब यह संशय है कि जो आत्मा व ब्रह्म राग आदि रहित होने से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो प्रकृति जड़ का अधिष्ठाता होना सिद्ध नहीं हो सकता इसका उत्तर वर्णन करते हैं॥९५॥

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥९६॥

उसके सन्निधान से मणि के समान अधिष्ठातृत्व है॥९६॥

इसका अभिप्राय यह है कि, जो संकल्पपूर्वक सृष्टि करना हम मानें

तो प्रकृति के अधिष्ठाता होने में दोष आवे हम यह मानते हैं कि जैसे अयस्कांतमणि (लोह चुम्बक) के सांनिध्य से लोहा विना संकल्प ही स्वाभाविक अदृष्ट नियम से खिचता व चलता है। इसी प्रकार से पुरुष के सन्निधि मात्र ही से प्रकृति महत्तत्त्व के रूप में परिणाम को प्राप्त होती है व सृष्टि की कारण होती है। सन्निधि मात्र से पुरुष आत्मा कर्त्ता है। इससे राग आदि दोष होने का संशय नहीं हो सकता (प्रश्न) उसने इच्छा किया कि मैं बहुत होऊं उत्पन्न होऊं यह श्रुति में कहा है श्रुति यह है–

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"।।

यह श्रुति विना चेतन कर्त्ता व उसके संकल्प मानने के मिथ्या होगी (उत्तर) जैसे जड़कगार में विना इच्छा होने के भी शीघ्र गिरनेवाला जानकर उपचार से यह कहा जाता है कि गिरने की इच्छा करता है वा गिरने चाहता है। इसी प्रकार से प्रकृति विषय में यह व ऐसी अन्य श्रुतियों को जानना चाहिये अथवा यह मानना चाहिये कि, आदि सृष्टि की उत्पत्ति विषय में ऐसी श्रुति नहीं है। ब्रह्मा विष्णु आदि सिद्धों के संकल्प वा भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति वर्णन करने में है।।९६।।

विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम् ।।९७।।

विशेष कार्यों में भी जीवों के सन्निधान से अधिष्ठातृत्व है।।९७।।

सन्निधान से अधिष्ठातृत्व है यह पूर्व सूत्र से ग्रहण किया जाता है अंतः करण से उपलक्षित जो है उसी की जीवसंज्ञा है। यह छठवें अध्याय में वर्णन करेंगे इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि केवल सृष्टि के आदि ही में पुरुष के संयोग मात्र से सृष्टि करना व अधिष्ठाता होना सिद्ध नहीं है विशेष कार्यों में अर्थात् व्यष्टि सृष्टि में भी अंतःकरण से प्रतिबिंबित (प्रतिबिंब को प्राप्त) चेतन जो जीव हैं। उनके सन्निधान से भी अधिष्ठातृत्व है कूटस्थ चेतन मात्र स्वरूप होने से किसी व्यापार से अधिष्ठाता नहीं होता।।९७।। शंका जो सदा सर्वज्ञ ईश्वर नहीं है तो वेदान्तों के वाक्यों के विवेक के उपदेश का उसमें अंधपरम्परा होने की शंका होने से प्रामाण्य नहीं है।। उत्तर–

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ।।९८।।

सिद्धरूपों के यथार्थ ज्ञाता होने से उनके वाक्यार्थ का उपदेश प्रमाण है।।९८।।

प्रमाण है यह मूल सूत्र में शेष है भाव से ग्रहण किया जाता है। अभिप्राय सूत्र का यह है कि, वेदांत वाक्यों का अर्थ जो विवेक के उपदेश का है वह इस संशय हेतु से कि, ईश्वर वा पुरुष को चेतनमात्र अकर्त्ता माना है विना सर्वज्ञ ईश्वर प्रतिपादक अंगीकार किये जाने के वेदांत वाक्यों के उपदेश प्रमाण व ग्राह्य नहीं है, त्याग के योग्य नहीं, क्योंकि ब्रह्मा आदि जे सिद्धरूप हैं। उनमें यथार्थ ज्ञान होने से उनका वाक्यार्थ उपदेश वेद मानने से प्रमाण मानने व ग्रहण के योग्य है।।९८।।

अंतःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।।९९।।

अंतःकरण का उससे उज्ज्वलित होने से लोह के समान अधिष्ठातृत्व है।।९९।।

उससे अर्थात् चेतन से उज्ज्वलित अर्थात् प्रकाशित अंतःकरण का लोह के समान अधिष्ठातृत्त्व है अर्थात् यथा लोह में ज्वलन वा प्रकाश नहीं है। परंतु अग्नि संयोग से रूप व जराने की शक्ति में अग्नि के सदृश अधिष्ठाता होता है। इसी प्रकार से चेतन से उज्ज्वलित अंतःकरण चेतन के सदृश अधिष्ठाता है इसका विशेष वर्णन आगे होगा।।९९।।

प्रतिबंधदृशःप्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।।१००।।

प्रतिबंध जो व्याप्ति है उस व्याप्ति दर्शन से अर्थात् व्याप्तिज्ञान से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना अर्थात् व्यापक का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है।।१००।।

यथा धूप व अग्नि सम्बंध के व्याप्ति ज्ञान से धूममात्र के प्रत्यक्ष से व्यापक अग्नि का अर्थात् जिसमें व्याप्ति सम्बंध है। उस अग्नि का विना इसके प्रत्यक्ष हुए ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है। पुरुष का ज्ञान अनुमान ही प्रमाण से होता है।।१००।।

आप्तोपदेशः शब्दः ।।१०१।।

आप्त का उपदेश शब्द है।।१०१।।

यथार्थ ज्ञानवान् सत्यवक्ता को आप्त कहते हैं। उसका उपदेश सत्य होने से प्रमाण है इससे आप्त का उपदेश शब्द प्रमाण है॥१०१॥

उभयसिद्धिः प्रमाणात्तत्तदुपदेशः ॥१०२॥

दोनों की सिद्धि प्रमाण से होने से उसका उपदेश है॥१०२॥

दोनों आत्मा व अनात्मा की सिद्धि विवेक द्वारा प्रमाण ही से होती है। इससे उसका अर्थात् प्रमाण का उपदेश किया है॥१०२॥

सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः ॥१०३॥

सामान्यतो दृष्ट से दोनों की सिद्धि है॥१०३॥

अनुमान तीन प्रकार का होता है पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट सामान्य तो दृष्ट अनुमान से दोनों की अर्थात् प्रकृति व पुरुष की सिद्धि होती है; यह अर्थ है जो पूर्व ही प्रत्यक्ष हुये के अनुसार पूर्व प्रत्यक्षीकृत जातीय विषयक अनुमान होता है उसको पूर्ववत् कहते हैं। यथा पूर्व ही रसोई आदि में अग्नि से धुवाँ होने के पूर्व ही प्रत्यक्ष होने से धुवां देखने से पूर्व प्रत्यक्षीकृत अग्निजातीय का अनुमान होता है व जो एक के विशेष धर्म का बोध होने से अन्य जो उससे भिन्न शेष रहे पदार्थ हैं। उनके भेद का अनुमान होता है उसको शेषवत् कहते हैं। यथा गंधवान् द्रव्य पृथ्वी होने के ज्ञान होने से पृथिवी से जो भिन्न पदार्थ हैं। उनमें यह ज्ञान होता है कि गंधरहित होने से यह पृथिवी नहीं है अथवा गंधवान् होने से यह पृथिवी है अन्य पदार्थ नहीं है इसको व्यतिरेक अनुमान भी करते हैं। कोई कारण से कार्य के अनुमान करने को शेषवत् कहते हैं। यथा उठे हुए अति सघन मेघों की विशेष अवस्था देखकर जल होगा यह अनुमान करना शेषवत् है। प्रत्यक्ष आदि जातीय धर्म को लेकर व्याप्ति ग्रहण से पक्षधर्मता केवल से उसके विजातीय अप्रत्यक्ष का जिस अंश में दोनों का सामान्य धर्म अर्थात् सदृश धर्म है उस सामान्य धर्मद्वारा अनुमान किया जाता है। वह सामान्य तो दृष्ट कहा जाता है यथास्थूल में प्रत्यक्ष से कारण कार्य का सम्बंध होना सिद्ध होता है कार्य कारण सम्बंध के ज्ञान होने से कुण्डल आदि कार्यरूप के देखने से कारण सुवर्ण आदि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार से अप्रत्यक्ष महत्तत्व आदिकार्य रूप पदार्थ के ज्ञान

होने से सामान्य कार्य कारण सम्बंध के ज्ञान होने के हेतु से कारणरूप प्रकृति का अनुमान होता है। अर्थात् सुख दुःख मोह धर्मसंयुक्त कार्यरूप महत्तत्त्व के सिद्ध होने से सुख दुःख मोहधर्मक उसके कारण प्रकृति से होने का अनुमान होता है। पुरुष में यद्यपि अनुमान की अपेक्षा नहीं है तथापि प्रकृति आदि के विवेक होने में सामान्यतो दृष्ट से पुरुष का अनुमान होता है। अर्थात् प्रधान का ग्रह आदि के तुल्य पर के अर्थ सहत्यकारी होने से उसके विजातीय पुरुष का प्रकृति आदि से पर होने का अनुमान होता है क्योंकि प्रकृति जड़ का ग्रह आदि के समान होने से भोक्ता होना संभव नहीं है। देह आदि का भोक्ता होना अविवेक से मानना है। इस प्रकार से सामान्यतो दृष्ट से जड़ प्रकृति व चेतनपुरुष दोनों की सिद्धि होती है।।१०३।।

चिदवसानो भोगः ।।१०४।।

चैतन्य में जिसका अवसान है ऐसा भोग है।।१०४।।

अभिप्राय यह है कि, जड़ होने के कारण से बुद्धि भोगकर्ता नहीं हो सकती अंतःकरण केवल करणरूप है। अंतःकरण के वृत्तियों के द्वारा भोग पुरुष चेतन में प्राप्त होता है इससे कहा है कि, भोग ऐसा है कि जिसका अवसान चैतन्य में होता है अर्थात् चैतन्य जो पुरुषस्वरूप है उसमें होता है अन्य में नहीं होता।।१०४।।

अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नादिवत् ।।१०५।।

अकर्ता को भी फल उपभोग अन्न आदि के समान होता है।।१०५।।

इस शंका के निवारण के लिये कि जो पुरुष अकर्ता है तो पुरुष को भोक्ता न होना चाहिये क्योंकि जो कर्म करता है उसी को फल भोग होना उचित है। बुद्धि करके जो धर्म आदि किये गये उनके जो फल सुख आदि भोग हैं वह पुरुष में किस प्रकार से घटित हो सकते हैं? सूत्र में यह वर्णन किया है कि अन्न आदि के तुल्य अकर्ता को भोग होता है यथा पाक बनानेवाला अन्न को पकाता है। उसको राजा आदि भोग करते हैं अर्थात् सेवक के किये हुए पाक का भोग स्वामी को होता है। इसी प्रकार से बुद्धिगत कर्मफल को पुरुष भोग करता है।।१०५।।

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः ॥१०६॥

अथवा उसको (अकर्ता पुरुष में भोग होने की) सिद्धि होने से अविवेक से कर्ता को फल होना मानना है॥१०६॥

पूर्वसूत्र में जो दृष्टांत वर्णन किया गया उससे कर्ता से अन्य को फल होना सिद्ध होता है। उसके सिद्ध होने से अर्थात् भोक्ता पुरुष में कर्म फल की सिद्धि होने से कर्ता बुद्धि को फल प्राप्त होता है। यह मानना अविवेक से है यह सूत्र का भाव है॥१०६॥

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥१०७॥

तत्त्व के साक्षात्कार होने में दोनों नहीं॥१०७॥

प्रमाण से प्रकृति पुरुष के तत्त्वाख्यान में अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार होने में सुख दुःख दोनों नहीं होते श्रुति में लिखा है "विद्वान् हर्षशोकौ जहाति" अर्थ–विद्वान् हर्ष व शोक को त्याग देता है॥१०७॥ शंका–प्रत्यक्ष से इन्द्रिय द्वारा प्रकृति व पुरुष के होने में प्रमाण नहीं होता इससे प्रकृति पुरुष का मानना सत् नहीं है। उत्तर–

विषयोऽविषयोऽप्यति दूरादेर्हानोपादानाभ्या-मिन्द्रियस्य ॥१०८॥

अति दूर आदि होने से प्रत्यक्ष होने व न होने से कहीं इन्द्रिय का विषय होता है व कहीं इन्द्रिय का विषय नहीं होता॥१०८॥

इन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होने से प्रकृति आदि का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष के योग्य विद्यमान अर्थ भी अवस्था भेद से व अति दूर आदि होने के दोष से इन्द्रियों से ग्रहण योग्य न होने से अविषय होता है। अर्थात् कोई पदार्थ निकट होने में इन्द्रिय का विषय होता है वही अति दूर होने से इन्द्रिय का विषय नहीं होता अर्थात् इन्द्रिय द्वारा ज्ञात नहीं होता प्रकाश में चक्षुइन्द्रिय से देखा जाता है। अंधकार में अथवा इन्द्रिय में विकार होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता इससे कहा है कि अति दूर आदि दोष से जो इन्द्रिय का विषय है। वही अविषय हो जाता है ऐसा होना सिद्ध होने से पदार्थों के होने के प्रमाण में इन्द्रिय ग्राह्य होने की आवश्यकता नहीं है॥१०८॥

अब यह प्रश्न है कि प्रकृति व पुरुष के बोधगत न होने में क्या हेतु है? उत्तर यह है–

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥१०९॥

सूक्ष्म होने से उनकी उपलब्धि नहीं है॥१०९॥

उनकी अर्थात् प्रकृति पुरुष की उपलब्धि न होना अर्थात् उनका प्रत्यक्ष न होना सूक्ष्म होने के कारण से है सूक्ष्म होने से यहां अणु होने से प्रयोजन नहीं है क्योंकि व्यापक है। प्रत्यक्षप्रमा कि जिसमें प्राप्ति न होवे वह सूक्ष्म कहा जाता है। प्रत्यक्षप्रमा रहित पदार्थ कहने से प्रयोजन है योग से उत्पन्न तेज से पुरुष व प्रकृति आदि का प्रत्यक्ष होता है। निरवयव द्रव्य होने से भी सूक्ष्म होने से अभिप्राय है॥१०९॥

शंका–अभाव से हम अनुपलब्धि मानते हैं सूक्ष्म होने के कारण से क्या मानें नहीं, आकाश के फूल व खरहा के सींग को भी सत्य मानेंगे और कहेंगे कि सूक्ष्म होने के कारण से अनुपलब्धि है। उत्तर–

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥११०॥

कार्य के देखने अथवा जानने से उनकी उपलब्धि से॥११०॥

पूर्व वर्णन किये गये के अनुसार प्रकृति आदि के कार्य के देखने अथवा जानने से उनका होना सिद्ध है। केवल प्रत्यक्ष न होने के कारण से सूक्ष्म होने का अनुमान होता है यह अभिप्राय है॥११०॥

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥१११॥

वादी के तर्क से जो उसकी असिद्धि मानी जावे॥१११॥

जो कार्य है सृष्टि उत्पत्ति से पहिले भी उसकी सिद्धि है क्योंकि कारण का कार्य शक्ति युक्त होना अनुमान किया जाता है। नहीं उससे कार्य का उत्पन्न होना असंभव होवे परंतु शंका यह है कि, जो वादी के तर्क से उसकी अर्थात् कार्य की असिद्धि मानी जावे तो क्या उत्तर है? इसका उत्तर आगे सूत्र में कहते हैं॥१११॥

तथाप्येकतरदृष्ट्याएकतरसिद्धेर्नापलापः ॥११२॥

एक दृष्टि से उस प्रकार से मानने पर भी एक की सिद्धि से अपलाप नहीं है॥११२॥

एक दृष्टि करके अर्थात् कार्य दृष्टि से उस प्रकार से अर्थात् सत् कार्य न मानने पर भी एक दृष्टि करके अर्थात् कार्य की दृष्टि से एक कारण की सिद्ध होने से अपलाप (असत् वाद) नहीं है। कारण भाव से नित्य सिद्ध ही है।।११२।।

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ।।११३।।

त्रिविध विरोध की प्राप्ति से भी।।११३।।

त्रिविध विरोध की प्राप्ति से भी कार्य का अनित्य वा असत् होना सिद्ध नहीं होता अर्थात् कार्य तीन प्रकार का है। अतीत (जो हो गया है) अनागत (जो होनेवाला है) और जो वर्तमान है जो कार्य सदा सत् न माना जावें तो उसका त्रिविध होना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि व्यतीत काल में जो घट आदि का अभाव है। तो घट आदिकों का अतीत होने आदि धर्म संयुक्त होने की सिद्धि नहीं होती इस हेतु से कि, सत् असत् का सम्बंध नहीं हो सकता जो यह कहा जाय कि, अभावमात्र होने के मानने से अभिप्राय है। घट आदि विशेष के मानने से नहीं है तो अभाव में विशेषता न मानने से पट आदि का अभाव घट आदि का अभाव हो जावेगा जो यह कहा जावे कि जो प्रतियोगी है। (जिसका अभाव है) वही अभाव का विशेषक है अर्थात् विशेषता का बोध करानेवाला है तो असत् प्रतियोगी का प्रागभाव आदि में विशेषक होना संभव नहीं होता इससे कार्य नित्य है। अतीत अनागत यह वर्तमान केवल अवस्था भेद कहना चाहिये एक का भाव अन्य का अभाव कहना यथार्थ नहीं है, अतीत अनागत दो अवस्था ध्वंस व प्रागभाव काल भेद से व्यवहार वाचक है क्योंकि वर्तमान से भिन्न दो अभाव में प्रमाण का अभाव है। कार्य के असत् मानने में त्रिविध विरोध की प्राप्ति होती है इससे असत् नहीं है।।११३।।

नासदुत्पादो नृश‍ृङ्गवत् ।।११४।।

मनुष्य के सींग के तुल्य असत्का उत्पन्न होना संभव नहीं होता।।११४।।

जैसे मनुष्य के सींग का जो त्रिकाल में असत् है उत्पन्न होना असंभव

है इसी प्रकार से असत् का उत्पन्न होना असंभव है।।११४।।

उपादाननियमात् ।।११५।।

उपादान के नियम से।।११५।।

उपादान कारण के नियम होने से कार्य का असत् होना नहीं पाया जाता क्योंकि मृत्तिका से घट और सूत से पट कार्य होते हैं। कार्यों के होने का उपादान कारणों में नियम है यह नियम होना संभव न होगा जो कार्य की उत्पत्ति से पहिले कारण में कार्य की सत्ता नहीं है तो कोई विशेष होने का हेतु नहीं है। जिससे विशेष कार्य उत्पन्न होवे इससे उपादान नियम से उत्पत्ति से पहिले भी कारण में कार्य की सत्ता है यह मानना चाहिये।।११५।।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात् ।।११६।।

सर्वत्र सर्वदा सब असंभव होने से।।११६।।

उपादान नियम न होने में सर्वत्र सर्वदा सब पदार्थ का होना संभव होता परंतु सर्वत्र सबसे सब पदार्थ न होने से उपादान नियम होना सिद्ध है इससे असत् का उत्पन्न होना नहीं हो सकता।।११६।।

शक्तस्य शक्यकरणात् ।।११७।।

शक्त का शक्य के करने से।।११७।।

शक्ति जिसमें हो वह शक्त है और जो होने के योग्य होवे उसको शक्य कहते हैं। शक्त जो कार्य उत्पन्न करने में शक्तिमान् कारण है उसका शक्य जो कार्य है। उसी के उत्पन्न करने से असत् का उत्पन्न होना नहीं है क्योंकि शक्त में कार्य की शक्ति कार्य के होने से पहिले विद्यमान है यह अनुमान से सिद्ध होता है।।११७।।

कारण भावाच्च ।।११८।।

कारण में भाव (कार्यसत्ता) होने से।।११८।।

उत्पत्ति से पहिले भी कारणरूप कार्य के भाव होने से अर्थात् कार्य कारण के अभेद होने से कारण में कार्य की सिद्धि होने से असत् का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता।।११८।।

न भावे भावयोगश्चेत् ।।११९।।

भाव में भाव योग न होवे।।११९।।

शंका–यह है कि जो भावरूप कार्य सत् माना जाय तो भाव में अर्थात् भावरूप कार्य में भाव योग नहीं होता। अर्थात् जो पहिले से है उसमें उत्पन्न होने रूप भाव का योग नहीं होना चाहिये। अर्थात् पुत्र होने पर भी पुत्र का न होना व होने से पहिले भी होना मानना चाहिये।।११९।। इसका उत्तर यह है–

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौव्यवहाराव्यवहारौ ।।१२०।।

नहीं अभिव्यक्ति के निमित्तक व्यवहार अव्यवहार।।१२०।।

'नहीं' इस शब्द से अभिप्राय यह है कि असत् का होना संभव नहीं है अभिव्यक्ति (प्रकट होने) के निमित्तक व्यवहार व अव्यवहार है अर्थात् अभिव्यक्ति होने से उत्पत्ति का व्यवहार व अभिव्यक्ति (प्रकटता) न होने से उत्पत्ति के व्यवहार का अभाव होता है। अभिव्यक्ति वर्तमान अवस्था है कारण से सत्कार्य की अभिव्यक्ति मात्र होना लोक में देखा जाता है। यथा तिल के अंतर्गत जो तेल है वह पेरने से प्रकट होता है व शिला मध्यस्थ प्रतिमा गढ़ने से प्रकट होती है इत्यादि।।१२०।। अब यह शंका है कि जो सत् अनादि कार्य है तो उसका नाश होना क्यों कहा जाता है? उत्तर–

नाशः कारणलयः ।।१२१।।

कारण में लय होना नाश है।।१२१।।

नाश किसी पदार्थ का नहीं है नाश केवल जिस कारण में प्रथम कार्य सत्तारूप था और उससे प्रकट हुआ था उसी में लय हो जाना व फिर सत्ता रूप रह जाना है। अतीत जो नष्ट हो गया व अनागत जो नष्ट नहीं हुआ होनेवाला है ऐसा कार्य नष्ट हुआ व नाश होने पर कारण में सत्ता रूप रहता है। अर्थात् अतीत काल में था व अनागत (भविष्यत्) काल में सत्तारूप रहेगा, यह निश्चय कैसे हो? उत्तर–जो अतीत अनागत में कार्य की सत्ता न होवे तो योगियों को अतीत अनागत का अर्थात् जो हो गया है व जो होनेवाला है उसका प्रत्यक्ष होता है। ऐसा योगियों को

प्रत्यक्ष न होवे इससे सत्तारूप कार्य पदार्थ का कारण में अतीत अनागत काल में होना सिद्ध होता है। योगियों को अतीत अनागत के प्रत्यक्ष होने में श्रुति स्मृति का प्रमाण है शंका–जिस प्रकार से कारण में कार्य की सत्ता अतीत अनागत में अंगीकार की जाती है और यह कहा जाता है कि जो अभिव्यक्ति से पहिले कार्य की कारण में सत्ता न होवे तो असत् कार्य की अभिव्यक्ति होना संभव नहीं है। इसी प्रकार से अभिव्यक्ति की भी पूर्वसत्ता अंगीकार करना चाहिये नहीं असत् अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति न होना चाहिये। इससे सत्कार्य होने के सिद्धांत को रक्षा के लिये अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति मानना उचित है परंतु ऐसा मानने में अनवस्था दोष की प्राप्ति है इसका उत्तर यह है।।१२१।।

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ।।१२२।।

परम्परारूप से बीज अङ्कुरके तुल्य खोजना है।।१२२।।

यथा बीज व अंकुर दोनों प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं इससे सत् होने में संदेह नहीं है। परंतु अंकुर वा वृक्ष से बीज प्रथम उत्पन्न हुआ अथवा बीज से अंकुर हुवा यह जाना नहीं जाता इसी प्रकार के कारण कार्य के सत् होने में संदेह नहीं है। परंतु अभिव्यक्ति की सत्ता मानने में बीज व अंकुर के सदृश खोजना है। यद्यपि यह खोजने में कि बीज से अंकुर वा अंकुर से बीज हुआ है। यह निश्चय प्राप्त न हो और अनवस्था की प्राप्ति होवे तथापि बीज व अंकुर का होना प्रत्यक्ष से सिद्ध होने से यह अनवस्था दोषरूप नहीं है, बीज व अंकुर के समान अभिव्यक्ति व उसकी अभिव्यक्ति वा सत्ता को मानना चाहिये इससे अनवस्था दोष न मानना चाहिये। केवल यह समाधान अंगीकार के योग्य नहीं समझा जा सकता इससे दूसरा समाधान आगे सूत्र में वर्णन किया है।।१२२।।

उत्पत्तिवद्वादोषः ।।१२३।।

उत्पत्ति के समान दोष रहित है।।१२३।।

यथा घटकी उत्पत्ति की उत्पत्ति, उत्पत्ति का स्वरूप ही है। इसी प्रकार से हमको घट के अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति को मानना चाहिये। इससे यथा उत्पत्ति में अनवस्था दोष नहीं है तथा अभिव्यक्ति में न

माननना चाहिये क्योंकि जो असत् की उत्पत्ति मानते हैं तो जब सबकी उत्पत्ति होती है तो उत्पत्ति की भी उत्पत्ति होना चाहिये और ऐसा मानने में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। परंतु अनवस्था का अंगीकार नहीं होता उत्पत्ति की उत्पत्ति उत्पत्ति का स्वरूप ही है। इसी प्रकार से अभिव्यक्ति में मानने से अभिव्यक्ति का मानना दोष रहित है॥१२३॥

पूर्व ही कार्य से मूल कारण के अनुमान होने का वर्णन किया गया है अब कार्यों के लक्षण वर्णन करते हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ॥१२४॥

हेतुमान् अनित्य व्यापक नहीं किया संयुक्त अनेक आश्रित लिङ्ग है॥१२४॥

लिंगशब्द महत्तत्व आदि कार्य का वाचक है परंतु यहाँ महत्तत्व मात्र विशेष कार्य कहने का प्रयोजन नहीं है। सामान्य कार्य अर्थ में लिंगशब्द कहा है अर्थात् कार्य का यह लक्षण वर्णन किया है कि जो हेतुमान् अर्थात् कारणवान् अनित्य हो व्यापक न हो क्रिया संयुक्त हो अनेक हो आश्रित हो वह लिंग (कार्य) है अर्थात् कार्य कारणवान् व अनित्य होता है और यथा कारण प्रधान का व्यापक होना पूर्व ही कहा गया है। इस प्रकार से कार्य व्यापक नहीं होता व क्रिया संयुक्त होता है अर्थात् नियत कारण से उत्पन्न होने की क्रिया संयुक्त होता है। अनेक होता है अर्थात् उत्पत्ति वा सृष्टि भेद से अनेक प्रकार के भेद संयुक्त भिन्न होता है व अवयवों में आश्रित होता है॥१२४॥

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥१२५॥

प्रत्यक्ष से अथवा गुण सामान्य (जाति) आदि के भेद न होने से उसकी सिद्धि है अथवा प्रधान के वर्णन से॥१२५॥

उसकी अर्थात् कार्य की सिद्धि कहीं प्रत्यक्ष से होती है यथा तन्तु आदिकों से पट आदि कार्यों की होती है। कहीं गुण सामान्य आदि के भेद न होने से अर्थात् गुण सामान्य (जाति) के भेद न होने से उसकी सिद्धि अनुमान से होती है। यथा निश्चय आदि गुण होने व कारण के

विरुद्ध धर्म होने से महत्तत्त्व आदिकों की सिद्धि होती है जैसे महापृथिवी आदि के सामान्यात्मकरूप (जातिरूप) होने से व उसके मात्रा विरुद्ध होने से पृथिवी कार्य आदिकों की होती है। तथा प्रधान के व्यपदेश से अर्थात् श्रुति में प्रधान के वर्णन से कारण से भिन्न कार्य के होने की सिद्धि होती है।।१२५।।

त्रिगुणाचेतनत्वादिद्वयोः ।।१२६।।

त्रिगुण व अचेतन होने से आदि से दोनों का।।१२६।।

दोनों कार्य कारणों का त्रिगुण व अचेतन आदि होने से साधर्म्य है अर्थात् दोनों का समान धर्म होना पाया जाता है। कारणरूप प्रकृति त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व रज तम गुणरूप है। वह महत्तत्त्व आदि कार्य रूप में सत्व आदि त्रिगुण कारण रूप से प्राप्त है अथवा सत्व आदि शब्दों से सुख दुःख मोह त्रिगुण महत्तत्त्व कार्य में कहे जाने से कार्य व कारण में त्रिगुण होने से दोनों का साधर्म्य है।।१२६।।

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ।।१२७।।

प्रीति अप्रीति विषाद आदि से अर्थात् विषाद आदि भेदों से गुणों का परस्पर वैधर्म्य है।।१२७।।

गुणों का सत्त्व आदि गुणों का प्रीति अप्रीति विषाद आदि भेद से परस्पर वैधर्म्य है। अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म होना पाया जाता है आदि शब्द अन्य सत्त्व गुण आदि के धर्म ग्रहण करने से प्रयोजन है यथा सत्त्वगुण प्रसन्नता, हलकापन, संग, प्रीति, क्षमा, संतोष, आदि भेद संयुक्त सुखात्मक है, रजोगुण शोक, अप्रीति, आदि नाना भेद से दुःखात्मक है। तमोगुण निद्रा, आलस्य, आदि भेद से मोहात्मक है प्रीति आदिकों के गुणधर्म होना कहने से सत्त्व आदिकों का जिनमें यह गुण आश्रित हैं द्रव्य होना सिद्ध है।।१२७।।

लघ्वादिधर्मैःसाधर्म्यंवैधर्म्यं च गुणानाम् ।।१२८।।

लघु (हलका होना) आदि धर्मों के साथ गुणों का साधर्म्य व वैधर्म्य दोनों हैं।।१२८।।

लघु आदि धर्म के साथ सब सत्त्वगुण व्यक्तियों का साधर्म्य है रज तम गुणों के साथ वैधर्म्य है। इसी प्रकार से चंचलत्व आदि धर्म के साथ रजोगुण व्यक्तियों के साथ साधर्म्य है। सत्त्व गुण व तमोगुण के साथ वैधर्म्य है गुरुत्व (गुरुवाईं) धर्म के साथ सब तमोगुण व्यक्तियों का साधर्म्य है। सत्व गुण व रजोगुण के साथ वैधर्म्य है कारण द्रव्य सत्त्व आदि शब्द स्पर्श आदि गुणों से रहित है।।१२८।।

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ।।१२९।।

दोनों से अन्य होने से महत्तत्त्व आदि का घट आदि के तुल्य कार्य होना सिद्ध होता है।।१२९।।

दोनों प्रकृति व पुरुष से अन्य होने अर्थात् भिन्न होने से महत्तत्त्व आदि घट आदि के तुल्य कार्य हैं। महत्तत्त्व आदि पंचभूत पर्य्यंत भोग्य होने से भोक्ता पुरुष नहीं है। प्रकृति भी नहीं है क्योंकि महत्तत्त्व आदि कार्यरूप का नाश होता है जो नाश न होवे तो मोक्ष की सिद्धि न होवे कारणरूप प्रकृति का नाश नहीं है। इससे प्रकृति पुरुष से भिन्न होना महत्तत्त्व आदि का सिद्ध होता है भिन्न होने से कार्य होना सिद्ध होता है।।१२९।।

परिमाणात् ।।१३०।।

परिमाण से।।१३०।।

परिमाण होने से अर्थात् परिच्छिन्न होने से महत्तत्त्व आदि का कार्य होना सिद्ध होता है। क्योंकि परिच्छिन्न पदार्थ का नाश होता है कारण का नाश नहीं होता।।१३०।।

समन्वयात् ।।१३१।।

समन्वय से।।१३१।।

समन्वय का अर्थ सदृश मति होना अथवा पीछे चलना है अभिप्राय एक का दूसरे वा औरों के अनुसार होना है। अवयवयुक्त अन्न आदि कार्यों के अनुसार होने से बुद्धि आदि तत्त्वों का कार्य होना विदित होता है। उपवास आदि में अन्न न खाने से बुद्धि आदि की क्षीणता और भोजन करने से समन्वय करके फिर बुद्धि की वृद्धि होती है। निरवयव नियत

कारण में अन्न आदि के अवयवों का प्रवेश घटित होना घटित नहीं होता।।१३१।।

शक्तितश्चेति ।।१३२।।

शक्ति से भी।।१३२।।

शक्ति से भी अर्थात् शक्ति होने से भी महत्तत्त्व आदि कार्य हैं शक्ति से अभिप्राय करण से है। पुरुष का जो करण है वह चक्षु आदि का तुल्य कार्य है। पुरुष में विषम अर्पण करनेवाला होने से महत्तत्त्व करण है। प्रकृति कारण नहीं है महत्तत्त्व के करण होने से कार्य होना सिद्ध होने से औरों का भी जो महत्तत्त्व के कार्य हैं उनका कार्य होना सिद्ध है।।१३२।।

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा।।१३३।।

उसके हान होने में प्रकृति अथवा पुरुष है।।१३३।।

उसके (कार्य के) न होने में अर्थात् कार्य न मानने में जो परिणामी है तो प्रकृति है जो परिणामी नहीं है व भोक्ता है तो पुरुष है यह भाव है।।१३३।। शंका–कार्य न माना जावे और प्रकृति पुरुष भी न होवे तो क्या हानि है? उत्तर–

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ।।१३४।।

उनसे अन्य होने में तुच्छत्व है।।१३४।।

उनसे अर्थात् प्रकृति पुरुष से भिन्न होने में कार्य पदार्थ का खरहाके सींग और आकाश के फूल के समान असत् व तुच्छ होना है।।१३४।।

कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ।।१३५।।

कार्य से कारण का अनुमान कार्य साहित्य से करने के योग्य है।।१३५।।

कार्य से जो कारण का अनुमान करना कहा है वह कार्य साहित्य ही से करने के योग्य है। अर्थात् कार्य द्वारा जो कारण के होने का अनुमान होता है। उस कारण का कार्य सहित होना अनुमान करने के योग्य है अर्थात् कार्य उत्पन्न होने के पूर्व ही कारण कार्य सहित ही था। यथा तिल में तेल होता है इत्यादि ऐसा अनुमान करना चाहिये।।१३५।।

अव्यक्त त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥१३६॥

त्रिगुण कार्य से अव्यक्त (सूक्ष्म) है॥१३६॥

त्रिगुण से महत्तत्त्व कार्य रूप से भी मूल कारण अव्यक्त सूक्ष्म है। महत्तत्त्व के सुख आदि गुण साक्षात् किये जाते हैं। प्रकृति के गुण भी साक्षात् नहीं होते प्रधान परम अव्यक्त है महत्तत्त्व उसकी अपेक्षा व्यक्त है यह अर्थ है॥१३६॥

शंका–परम सूक्ष्म है यह कहकर प्रकृति को मान लेना मात्र मिथ्यावाद है। उत्तर–

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥१३७॥

उसके कार्य की उसकी सिद्धि होने से अपलाप नहीं है॥१३७॥

उसके अर्थात् प्रकृति के कार्य से उसकी प्रकृति की सिद्धि होने से अपलाप (असत् कथन) नहीं है॥१३७॥

प्रकृति के अनुमान का विचार करके अब पुरुष का विचार किया जाता है।

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥१३८॥

सामान्य से विवाद के अभाव (न होने से) धर्मके समान साधन नहीं है अर्थात् साधन अपेक्षित नहीं है॥१३८॥

जिस वस्तु में सामान्य मे विवाद नहीं है उसके स्वरूप से साधन की अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् उसका साधन अपेक्षित नहीं होता यथा धर्म के साधन की अपेक्षा नहीं होती यह भाव है। धर्मी में भी विवाद होने से सामान्य में भी जिस प्रकार से प्रकृति का साधन अपेक्षित है अर्थात् प्रकृति के साधन की अपेक्षा होती है इस प्रकार से पुरुष का साधन अपेक्षित नहीं है क्योंकि चेतन के सिद्ध न होने व मानने में जगत् के अंध होने का प्रसंग है। 'मैं हूं' ऐसा माननेवाला भोक्ता पदार्थ में सामान्य से बौद्धों का भी विवाद नहीं है। अर्थात् बौद्ध व सम्पूर्ण मनुष्य सामान्य से मैं, पदार्थ को मानते हैं यथा धर्म को सामान्य में बौद्ध सब अंगीकार करते हैं। कोई धर्म व गुण पदार्थ को निषेध नहीं कर सकता तप्तवस्तु के आरोपण करने से धर्म होने का अंगीकार हो ही जाता है। इसी प्रकार से

मैं, पदार्थ का अंगीकार होता है इससे पुरुष का साधन अपेक्षित नहीं है। पुरुष में विवेक नित्य होना आदि समाधान मात्र अनुमान करने के योग्य है। अब शरीर आदि से पुरुष भिन्न है यह सिद्ध करने के प्रयोजन से प्रथम विवेक के प्रतिज्ञा विषय में सूत्र वर्णन् करते हैं।।१३८।।

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ।।१३९।।

शरीर आदि से पुरुष भिन्न है।।१३९।।

शरीर आदि प्रकृति पर्य्यंत चौबीस तत्त्व व चौबीस तत्त्वमय जो पदार्थ हैं उन सबसे भोक्ता पुरुष भिन्न है।।१३९।।

संहतपरार्थत्वात् ।।१४०।।

संहत पर के अर्थ होने से।।१४०।।

संहत जो कार्यनिमित्तक संयोग है वह प्रकृति आदि का शय्या आदि के समान पर के अर्थ है पर के अर्थ होने से यह अनुमान होता है कि संहत जो देहादि हैं उनसे संहत रहित पुरुष भिन्न व पर है।।१४०।।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ।।१४१।।

त्रिगुण आदि के विपर्यय से।।१४१।।

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के जे सुख दुःख मोह आदि धर्म है। उनसे विपर्यय अर्थात् विपरीत होने से पुरुष भिन्न है क्योंकि शरीर आदिकों का सुख दुःखात्मक होना आदि धर्म है। वह सुख आदि के भोक्ता में संभव नहीं होता क्योंकि वह सुख आदि का ग्रहण करनेवाला है ग्रहण करनेवाला व जो ग्रहण के योग्य है, कर्म व कर्त्ता के विरोध से दोनों एक नहीं हो सकते आदि शब्द से अविवेकी होना आदि जानना चाहिये।।१४१।।

अधिष्ठानाच्चेति ।।१४२।।

अधिष्ठान से भी।।१४२।।

अधिष्ठान भोक्ता के संयोग को कहते हैं वह प्रकृति आदिकों को परिणाम रूप भोग के हेतु जो कार्य हैं। उनमें कारण है भोक्ता के अधिष्ठान से भोगायतन (भोगस्थान) का निर्माण हुआ है जैसा आगे

वर्णन किया है। इससे पुरुष प्रकृति से भिन्न है व प्रकृति से भिन्न होने से प्रकृत्ति के कार्यों से भिन्न है क्योंकि विना भेद के संयोग संयोगी भाव नहीं होता। इति शब्द समाप्ति अर्थ वाचक है सूत्र में इति शब्द जो है वह पुरुष के भिन्न होने के वर्णन की समाप्ति सूचन अर्थ में है।।१४२।।

भोक्तृभावात् ।।१४३।।

भोक्ता के भाव से।।१४३।।

शरीर में भोक्ता के भाव होने से शरीर आदि का स्वरूप ही भोक्ता नहीं है। शरीर आदि से भिन्न पुरुष भोक्ता है जो शरीर आदि स्वरूप ही भोक्ता माना जावे तो भोक्ता होना ही असंभव होगा क्योंकि वही कर्म व वही कर्त्ता नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर ही भोग्य शरीर ही भोक्ता नहीं हो सकता।।१४३।।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।१४४।।

मोक्ष के अर्थ प्रवृत्ति होने से भी।।१४४।।

जो शरीर आदि का भोक्ता होना अंगीकार किया जाय तो भोक्ता की मोक्ष के लिये अर्थात् अत्यंत दुःख नाश के अर्थ प्रवृत्ति न होना चाहिये क्योंकि शरीर आदि नष्ट ही हो जाते हैं। जो प्रकृति का मोक्ष होना कहा जावे तो प्रकृति धर्मी ग्रहण किये जाने से दुःख स्वभाव सिद्ध होने से उसका मोक्ष होना असंभव है। इससे मोक्ष के अर्थ प्रवृत्ति होने से भी पुरुष का भिन्न होना सिद्ध होता है।।१४४।।

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ।।१४५।।

जड़ में प्रकाश का योग न होने से प्रकाश भिन्न है।।१४५।।

प्रकाश शब्द का अर्थ यहां ज्ञान है अर्थात् जड़ लोह आदि पदार्थ में ज्ञान का योग न होने से ज्ञान स्वरूप चेतन पुरुष सम्पूर्ण जड़ प्रकृति कार्य से भिन्न है। यह सूत्र का भाव है जो प्रकाश शब्द का अर्थ लौकिक तेज का ग्रहण किया जावे तो जड़ के योग होने का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि भौतिक अग्नि सूर्य आदि जड़ प्रकाश युक्त हैं। इनका जड़ होना ज्ञान होने के प्रमाण के अभाव से सिद्ध है।।१४५।। शंका-प्रकाशस्वरूप होने में धर्म धर्मी का भान होगा वा नहीं? उत्तर—

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ।।१४६।।

निर्गुण होने से ज्ञान धर्मसंयुक्त वा ज्ञान धर्मवाला नहीं है।।१४६।।

तेज का प्रकाश ही रूपविशेष है। उस प्रकाशरूप के आग्रह होने में भी स्पर्श सहित तेज के ग्रहण होने से तेज व प्रकाश में भेद सिद्ध होता है। आत्मा के ज्ञान संज्ञक प्रकाश के आग्रह काल में आत्मा के भिन्न होने का ग्रहण नहीं होता। इससे धर्म धर्मी भाव शून्य प्रकाशरूप ही आत्मा द्रव्य के होने की कल्पना की जाती है। उसका गुण होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि संयोग आदिमान् है व आश्रित नहीं है गुण किसी में आश्रित होता है व उसमें संयोग नहीं होता।।१४६।। अब यह शंका है कि यह उत्तर यथार्थ नहीं है। 'मैं जानता हूं' ऐसा बोध होने ही से धर्म धर्मी भाव का अनुभव होने से पुरुष का ज्ञान धर्मवान् होना सिद्ध होता है, इसका उत्तर वर्णन करते हैं–

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ।।१४७।।

श्रुति से सिद्ध का उसके प्रत्यक्ष से बाधा होने से अपलाप नहीं है।।१४७।।

आत्मा का निर्गुण होना केवल अनुमान से नहीं कहा जाता किन्तु श्रुति से भी सिद्ध है श्रुति में कहा है। ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' अर्थ–साक्षी ज्ञानवान् केवल निर्गुण है जो श्रुति से अर्थात् श्रुति प्रमाण से निर्गुण सिद्ध है उसके प्रत्यक्ष से बाधा होने से अर्थात् प्रत्यक्ष से निर्गुण होना सिद्ध न होने से उसका अपलाप (मिथ्या वा असत् कथन) नहीं हो सकता जो श्रुति प्रमाण से सिद्ध है वही मानने के योग्य है। इससे धर्म धर्मी भेद रहित ज्ञानरूपी आत्मा का होना सिद्ध होता है 'मैं जानता हूं' ऐसा बोध होने में जो धर्म धर्मी भेद होने का अनुभव होता है तो 'मैं गोरा हूं' ऐसा बोध होने से शरीर व पुरुष के भेद न होने का अनुभव होना यथार्थ मानना चाहिये व शरीर से भिन्न होने के युक्ति हेतुओं का निषेध होना चाहिये। परंतु ऐसा मानना यथार्थ नहीं हो सकता प्रमाण विरुद्ध है। इसी प्रकार से 'मैं जानता हूं' इसमें धर्म भेद मानना चित नहीं है अथवा यह मानना चाहिये कि ज्ञान धर्म नित्य परिणाम रहित विशेष

धर्म चेतन पुरुष में होने से धर्म धर्मी को अभेद मानकर ज्ञानस्वरूप ही पुरुष को माना है। इससे निर्गुण कहा है व अन्य बुद्धि वृत्तियों के भेद को अंतःकरण का गुण माना है। इससे बुद्धि वृत्तिभेद गुण पुरुष में न होने से गुणगुणी भाव का ग्रहण न करके व श्रुति प्रमाण को मुख्य अंगीकार करके पुरुष निर्गुण है। यह कहा है अब यह शंका है कि, जो आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान नाश न होने से सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का भेद न होना चाहिये इसका उत्तर वर्णन करते हैं॥१४७॥

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥१४८॥

सुषुप्ति है आदि में जिसके ऐसा जो अवस्थात्रय है उसका साक्षी होना मात्र पुरुष में है॥१४८॥

सुषुप्ति है आदि में जिसके ऐसा अवस्थात्रय जो अवस्था का तीन होना है उसका साक्षी मात्र होना पुरुष में सिद्ध होता है। अर्थात् सुषुप्ति स्वप्न जाग्रत् अवस्थाओं का साक्षी पुरुष है तीनों अवस्था के साक्षी होने से पुरुष का विलक्षण व शरीर आदि से पृथक् साक्षी होना सिद्ध होता है, इन्द्रियद्वारा बुद्धि का विषयों के आकाररूप परिणाम होना जाग्रत् अवस्था है व संस्कार मात्र से जन्म उसी प्रकार परिणाम होना स्वप्न अवस्था है, सुषुप्ति अवस्था अर्द्धलय व समग्र लय के भेद से दो प्रकार की होती है। अर्द्धलय सुषुप्ति अवस्था में विषयाकार वृत्ति नहीं होती केवल अपने में प्राप्त सुख दुःख मोह आकार ही बुद्धिवृत्ति होती है। जो सुखरूप बुद्धिवृत्ति न होवे तो सोकर उठे हुए को मैं सुख से सोया ऐसा सुषुप्ति काल के सुख आदि का स्मरण न होवे समग्र लयरूप सुषुप्ति में सब बुद्धिवृत्तियों का अभाव होता है मृत के तुल्य हो जाता है। समग्र सुषुप्ति जो वृत्तियों का अभावरूप है उसका पुरुष साक्षी नहीं होता पुरुष वृत्ति ही मात्र का साक्षी होता है। अन्यथा संस्कार आदि बुद्धिधर्म का भी साक्षी होना संभव होगा सुषुप्ति आदि का साक्षी होना जिस प्रकार से बुद्धिवृत्तियां अपने में प्रतिबिंबित होती हैं। उनका उसी प्रकार से प्रकाश कर देना है। इसका आगे वर्णन किया जायगा अब यह आशंका है कि. यदि सुषुप्ति बुद्धिवृत्ति ही सुख दुःख गोचर मानी जाती है तो जाग्रत्

आदि में भी सम्पूर्ण वृत्तियों का वृत्ति ग्राह्य होना अंगीकार करना युक्त है। अपने गोचर वृत्ति होने ही से अपने व्यवहार हेतु का सामान्य से कहना यथार्थ होने से वृत्तियों का कोई साक्षी पुरुष कल्पना करना व्यर्थ है। इसका उत्तर यह है कि, ऐसा मानना युक्त नहीं है क्योंकि नियम के साथ अपने गोचर वृत्तियों के कल्पना करने में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी अनवस्था दोष की प्राप्ति यह है कि 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि वृत्तियों में सुख आदि के विशेषणता सहित होने से आदि में उनका ज्ञान निर्विकल्पक होना अपेक्षित है अनंत निर्विकल्पक वृत्तियों की अपेक्षा होने से अवस्था की प्राप्ति है। इससे नित्य एक ही आत्मा ज्ञानस्वरूप के ज्ञान की कल्पना की जाती है व एक ही आत्मा का मानना यथार्थ विदित होता है 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि विशिष्ट ज्ञान के अर्थ बुद्धिवृत्ति ही का तादृशाकार (उसी के आकाररूप) होना संभव है पुरुष के वृत्तिसारूप्य मात्र मानने से वृत्ति आकार से भिन्न आकार होना अंगीकार के योग्य न होने व पुरुष ही स्वतंत्र आकार मानने से परिणाम होने की प्राप्ति व परिणाम से अनित्य होने की सिद्धि होगी। इससे पुरुष को साक्षी मात्र मानना युक्त है। अब यह प्रश्न है कि सुषुप्ति आदि में साक्षीमात्र होने से कोई पुरुष होना सिद्धि होने में भी यह संशय होता है कि पुरुष एक ही है अथवा अनेक हैं। इस पर पूर्व पक्ष यह है कि जाग्रत आदि अवस्थारूप जे विरुद्ध धर्म हैं वह बुद्धिधर्म होना संभव होने से व श्रुति में भी एक होना कहने से आत्मा एक ही है। परंतु यद्यपि एक आत्मा सब बुद्धियों का साक्षी है तथापि जिस बुद्धि की वृत्ति होती है वही बुद्धि अपनी वृत्ति विशिष्ट के साथ साक्षी को ग्रहण करती है अथवा प्राप्त होती है यथा मैं घटको जानता हूँ इत्यादि रूपों से। उत्तर–यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से यह घट है। यह एक बुद्धि की वृत्ति होने में मैं घटको जानता हूँ यह अनुभव अन्य बुद्धि की वृत्तिद्वारा नहीं हो सकता अब सिद्धांत इसका अगले सूत्र में वर्णन करते हैं।। १४८।।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।।१४९।।

जन्म आदि के व्यवस्था से पुरुषों का बहुत होना है अर्थात् बहुत होना सिद्ध होता है।।१४९।।

पुण्यवान् स्वर्ग को जाता है पापी नरक को जाता है अज्ञानी बंध को व ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होता है। कोई मनुष्यजाति कोई पशुजाति आदि अनेक योनियों में भिन्न भिन्न शरीर में उत्पन्न हो भिन्न भिन्न अवस्था व दु:ख सुख को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से पुरुष का बहुत होना सिद्ध होता है परंतु जन्म मरण में न पुरुष की उत्पत्ति है न पुरुष का विनाश है। केवल अपूर्व देह इन्द्रिय आदि के संघात विशेष से संयोग व वियोग होता है।।१४९।। अब पुरुष के एक होने के प्रतिपादन का पूर्वपक्ष यह है—

उपाधिभेदेप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।।१५०।।

उपाधि भेद में एक का भी नाना योग होता है यथा आकाश का घट आदिकों के साथ होता है।।१५०।।

उपाधि से एक ही पुरुष का नाना शरीर के साथ योग होता है यथा एक ही आकाश का नाना घट ग्रह आदि से संयोग होता है जैसे एक घट न रहने व द्वितीय घट के योग होने से आकाश प्रदेश की व्यवस्था होती है। इसी प्रकार से विविध देह के जन्ममरण आदि से पुरुष की व्यवस्था है।।१५०।।

उपाधिर्भिद्यते नतु तद्वान् ।।१५१।।

उपाधि भेद को प्राप्त होती है उस उपाधिवाले में भेद नहीं होता।।१५१।।

उपाधि भेद को प्राप्त होती है अर्थात् नानारूप होती है। उपाधि भेद होने से उस उपाधि विशिष्ट में अर्थात् पुरुष में भेद नहीं होता इसका विशेष वर्णन छठवें अध्याय में किया जायगा।।१५१।।

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ।।१५२।।

इस प्रकार से एक भाव से सर्वत्र वर्तमान का विरुद्ध धर्म का प्रसंग नहीं है।।१५२।।

इस प्रकार से अर्थात् उपाधि मात्र से भेद को प्राप्त तत्त्व भाव से आकाश के समान एक भाव से सर्वत्र सब दिशा में वर्तमान आत्मा का

विरुद्ध धर्म जन्म मरण में प्रसंग नहीं है। अर्थात् सर्व व्यापक का जन्म मरण होना संभव नहीं होता जन्म मरण परिच्छिन्न पदार्थ का होता है। पुरुष में बुद्धि धर्म सुख दुःख आदि व शरीर धर्मों की व्यवस्था स्फटिक में अरुण नीलरूप आदि धर्मों की व्यवस्था होने के तुल्य होती है।। १५२।।

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात्तत्सिद्धिरेकत्वात् ।।१५३।।

निश्चय करके अन्य के धर्म होने में भी आरोप करने से उसकी सिद्धि नहीं है एक होने से।।१५३।।

अन्य के धर्म होने में अर्थात् पुरुष भिन्न प्रकृति के धर्म होने में सुख आदि धर्म आरोप करने से पुरुष में उसकी अर्थात् व्यवस्था की सिद्धि नहीं है। अभिप्राय यह है कि, पुरुष में सुख आदि आरोप न करने से भी आरोप का अधिष्ठान पुरुष के एक होने से भेद होने की सिद्धि नहीं होती क्योंकि आकाश यद्यपि एक है। परंतु घट अवच्छिन्न आकाशों की घटों के भेद से भिन्नता होने से औपाधिक धर्म व्यवस्था घटित होती है, आत्मत्व व जीवत्व आदि उपाधि अवच्छिन्न की व्यवस्था होना घटित नहीं होता। क्योंकि उपाधि के वियोग में घटों के आकाशों के नाश होने के समान उपाधिक नाश से जीव नहीं मरता व एक ही जीव वा पुरुष में सुख दुःख जन्म मरण विरुद्ध धर्म सिद्ध नहीं होते। इससे चेतन जाति ही मात्र से एकता और व्यवस्था व व्यक्ति से पुरुषों में अनेकता जैसा पूर्व ही कहा गया है वैसा मानना उचित है।।१५३।।

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।।१५४।।

जाति पर होने से अद्वैत श्रुति का विरोध नहीं है।।१५४।।

पूर्वपक्ष यह है कि, कहीं श्रुति स्मृति में पुरुष व ब्रह्म का भेद कहा है व कहीं अभेद अद्वैत वर्णन किया है द्वैत प्रतिपादक वाक्यों का अद्वैत प्रतिपादक श्रुति वाक्यों से विरोध होगा। इसका उत्तर यह है कि अद्वैत श्रुति का अभिप्राय जाति पर होने से अद्वैत श्रुतियों का विरोध नहीं है। सामान्य धर्म होना जाति है समधर्म होना मात्र जो जाति है उसी के प्रतिपादन में अद्वैत श्रुतियों का तात्पर्य है और जो द्वैत नाना पुरुष होने के वर्णन में श्रुतिवाक्य हैं। वह साधारण यथा सुख दुःख अवस्था भेद से

व्यवस्था लोक में सिद्ध है। उसके प्रतिपादन विषय में है, व्यक्ति व व्यवस्था भेद से व्यवस्था प्रतिपादक वाक्य होने व अद्वैत श्रुति के तत्त्वरूप जाति प्रतिपादक होने से अर्थात् विजाती द्वैत के निषेध पर होने से द्वैत व अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों में विरोध नहीं है यथा अनेक दीप उपाधि व व्यक्ति भेद से अनेक कहे जाते हैं और जो भेद अंगीकार न करके तत्त्वरूप से सबको तेजरूप मात्र से एक ही पदार्थ मानें तो कुछ विरोध नहीं है। इसी प्रकार से पुरुष में भेद व अभेद का होना जानना चाहिये।।१५४।।

शंका–आत्मा के एक न होने के समान एक जाति व रूप होने में भी नानारूप व भेद प्रत्यक्ष होने से विरोध होना सिद्ध होता है। इससे एक जाति कहना भी यथार्थ नहीं है इसके उत्तर में यह सूत्र है–

विदितबंधकारणस्य दृष्ट्यातद्रूपम् ।।१५५।।

विदितबंध कारण की दृष्टि से रूपभेद नहीं है।।१५५।।

विदित बंध कारण जो अविवेक है उस अविवेक ही की दृष्टि से पुरुष में रूप भेद है भ्रांति दृष्टि से रूपभेद होने से रूपभेद की सिद्धि नहीं है।।१५५।। तथा–

नान्धदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलंभः ।।१५६।।

अन्ध की दृष्टि में न प्राप्त होने से नेत्रवालों को अप्राप्त नहीं है।।१५६।।

अभिप्राय यह है कि, अंध जो मूढ़ अज्ञानी हैं उनकी दृष्टि में न प्राप्त होने से अर्थात् न देखने अथवा न जानने से नेत्रवान् जो ज्ञानी हैं उनको अप्राप्त अर्थात् अदृश्य नहीं है। अज्ञानी को नहीं बोध होता परंतु ज्ञानी को एकरूप होना बोध होता है। इससे प्रत्यक्ष से बोधगत न होने से गति से एकरूप होने की असिद्धि नहीं है।।१५६।।

वामदेवादिर्मुक्तौ नाद्वैतम् ।।१५७।।

वामदेव आदि मुक्त हैं अद्वैत नहीं हैं।।१५७।।

अभिप्राय यह है कि जब कहनेवाला कहता है कि, वामदेव आदि मुक्त हैं इस कहने से यह विदित होता है कि, कहनेवाला अपने में बंध होना मानकर यह कहता है कि वामदेव आदि मुक्त हैं मैं अभी बंध में हूं

इससे द्वैत का होना सिद्ध है। एक बद्ध व एक मुक्त होने से अखण्ड अद्वैत नहीं है।।१५७।। वामदेव आदि भी परम मोक्ष को नहीं प्राप्त हुए इस वर्णन में यह सूत्र है–

अनादावद्ययावदभावाद्भविष्यदप्येवम् ।।१५८।।

अनादिकाल से वर्तमानकाल तक अभाव होने से भविष्यत्काल में भी इसी प्रकार से।।१५८।।

अनादि काल से अब तक कोई परम मोक्ष को नहीं प्राप्त हुआ तो होनेवाले काल में भी इसी प्रकार से किसी को परम मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि जो होने योग्य होता तो अब तक किसी को अवश्य होता।।१५८।।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।।१५९।।

इस काल के समान सर्वत्र (सब काल में) अत्यंत निवृत्ति नहीं है।।१५९।।

वर्तमान काल के समान सर्वत्र अर्थात् सब काल में अत्यंत बंध की निवृत्ति कि, जिससे फिर कभी बंध न हो किसी पुरुष की नहीं है यह अनुमान से सिद्ध होता है। क्योंकि जो परम मोक्ष को प्राप्त होते जाते तो सब के मुक्त हो जाने पर संसार की उत्पत्ति प्रलय का अभाव हो जाता अथवा किसी काल में हो जाना संभव है। परंतु श्रुति प्रमाण व अनुमान से ऐसा होना सिद्ध नहीं होता।।१५९।। शंका–जो पुरुष को एकरूप होना कहा है व वर्तमान में उसके विरुद्ध बोध होता है। तो यह जानना चाहिये कि मोक्ष काल में वा सब काल में किस काल में पुरुष का एक होना प्रतिपादन किया है? समाधान यह है–

व्यावृत्तोभयरूपः ।।१६०।।

दोनों रूप निवृत्त है।।१६०।।

मोक्षकाल व जब मोक्ष नहीं है दोनों कालों में पुरुष बंध से निवृत्त है व श्रुति स्मृति से नित्यमुक्त एकरूप पुरुष सिद्ध है। अनेकरूप व भेद माया से अज्ञान से है।।१६०।। शंका–साक्षी होने के अनित्यता होने से पुरुष का सदा एकरूप होना किस प्रकार से हो सकता है? समाधान–

साक्षात्संबंधात्साक्षित्वम् ॥१६१॥

साक्षात् सम्बंध से साक्षित्व है॥१६१॥

पुरुष का साक्षी होना जो कहा है वह साक्षात् उसके सम्बंध मात्र से कहा है। परिणाम रूप होने से नहीं कहा साक्षात् सम्बंध करके बुद्धि मात्र के साक्षी होने का बोध होता है। पुरुष में साक्षात् सम्बंध अपनी बुद्धि वृत्ति ही का होता है व सम्बंध प्रतिबिम्ब मात्र का है जैसे स्फटिक में अरुण पदार्थ के प्रतिबिम्ब से अरुणता की प्रत्यक्षता होती है। संयोग मात्र का सम्बंध नहीं है॥१६१॥ व द्वयमुक्त होने दोनों काल में पुरुष के बंध रहित होने से विशेष वर्णन करते हैं–

नित्यमुक्तत्वम् ॥१६२॥

नित्य ही मुक्त होना मानने योग्य है॥१६२॥

नित्यमुक्त होना अर्थात् नित्य ही पुरुष सब दुःख से शून्य है। दुःख आदि बुद्धि के परिणाम से होते हैं पुरुषार्थ दुःख भोग की निवृत्ति को कहते हैं। वह प्रतिबिम्बरूप दुःख की निवृत्ति है यह पूर्व ही कहा गया है॥१६२॥

औदासीन्यं चेति ॥१६३॥

उदासीन होना भी॥१६३॥

उदासीन होना अर्थात् कुछ कर्म न करना भी पुरुष में सिद्ध होना है। पुरुष कर्तृत्वरहित है श्रुति में कहा है "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्धीर्ह्रीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति" अर्थ–काम विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य अधैर्य विवेक लज्जा और भय ये सब मन ही है। अर्थात् ये सब मन ही के कार्य हैं इससे पुरुष दुःख व कर्मबंध से रहित है 'इति' शब्द सूत्र में पुरुषधर्म प्रतिपादन की समाप्ति सूचन के अर्थ है॥१६३॥

शंका–जैसा वर्णन किया है इस प्रकार से पुरुष व प्रकृति का विवेक से परस्पर विरुद्ध धर्म होना सिद्ध होने में पुरुष का कर्ता होना व बुद्धि का ज्ञाता होना कैसे सिद्ध होता है? उत्तर–

उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ।।१६४।।

उपराग से कर्ता होना ज्ञानसंयोग होने से ज्ञान संयोग होने से।।१६४।।

पुरुष व बुद्धि का यथायोग्य परस्पर सम्बंध है पुरुष में जो कर्त्ता होने का धर्म है। वह बुद्धि के उपराग वा बुद्धि प्रतिविंब से है व बुद्धि में जो ज्ञान है वह पुरुष के समीप होने के सम्बंध से ज्ञान प्रकाश है न पुरुष में अपना स्वाभाविक कर्ता होने का धर्म है न बुद्धि में स्वाभाविक ज्ञान है एक दूसरे के सम्बंधद्वारा है जैसे अग्नि व लोह के परस्पर संयोग विशेष से परस्पर धर्म अर्थात् उपाधि से एक दूसरे में उष्णता व कठिनता होती है। दो बार ज्ञानसंयोग होने से कहना अध्याय की समाप्ति सूचन के अर्थ है।।१६४।।

इति श्रीप्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततरेहित्याख्यग्रामुवासिश्रीप्रभुदयालु-निर्मिते सांख्यदर्शन देशभाषाभाष्ये विषयोऽध्यायः समाप्तः ।। समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोध्यायः ॥२॥

सृष्टि विषय वर्णन में द्वितीय अध्याय का आरंभ किया जाता है इस अध्याय में सृष्टि का वर्णन है। इस संशय निवारण के अर्थ कि, प्रकृति का सृष्टि करने में प्रयोजन क्या है क्योंकि विना प्रयोजन सृष्टि होने में मुक्त का भी बंध होने का प्रसंग है और विना प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती न होना संभव है प्रथम सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन वर्णन करते हैं–

विमुक्त[1]मोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥१॥

विमुक्त के मोक्ष के अर्थ अथवा प्रधान का अपने अर्थ है॥१॥

स्वभाव से दुःखबंध से रहित विमुक्त पुरुष के प्रतिविम्वरूप दुःख से मोक्ष के अर्थ वा विमुक्त नाम बद्ध के मोक्ष के अर्थ अथवा अपने पारमार्थिक दुःख मे मोक्ष के अर्थ प्रधान का जगत् उत्पत्तिरूप कर्म है। उत्पत्ति करने अर्थ पूर्व अध्याय के सम्वंध मे ग्रहण किया जाता है। जगत् के कर्त्ता होने के वर्णन में अध्याय समाप्त हुवा है। उस सम्वंध मे सृष्टि करने का अर्थ का ग्रहण होता है। यद्यपि मोक्ष के समान भोग भी सृष्टि उत्पत्ति का प्रयोजन है क्योंकि विना सृष्टि व शरीर आदि के पुरुष को सांसारिक अनेक विषय सुख प्राप्त नहीं हो सकता विना सृष्टि जिन पदार्थों में सुख उत्पन्न करने अथवा दुःख उत्पन्न करने का धर्म है। उनका सफल होना व पुरुष को अनेक प्रकार से सांसारिक विषय भोग होना संभव नहीं होता तथापि मुख्य होने से मोक्ष ही को कहा है। विना बंध मोक्ष सुख बोध होना संभव नहीं है क्योंकि विना निकृष्ट के उत्कृष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे बंध के पश्चात् मोक्ष के अर्थ अर्थात् मोक्ष सुख

---

१ मुक्त का मोक्ष कहना अयुक्त है क्योंकि बद्ध का मोक्ष होना संभव है। इससे विमुक्त का अर्थ बद्ध ही का ग्रहण करना युक्त है और विमुक्त का अर्थ बद्ध का इस प्रकार से होता है। 'विगतं मुक्तं मोचनं यस्य सः, विमुक्तः बद्धः तस्य मोक्षार्थं विमुक्तमोक्षार्थम्'!

के लिये सृष्टि का प्रयोजन है। यह भाव सूत्र का विदित होता है जो यह संशय होवे कि, प्रकृति जड़ में यह ज्ञान होना कि किसके अर्थ क्या कार्य करना चाहिये संभव नहीं है। तो यद्यपि प्रकृति जड़ है परंतु पुरुष के संयोग से चेतनता को प्राप्त हो सृष्टि के करने व बुद्धि संयुक्त होने का अनुमान होता है।।१।।

शंका–जो मोक्ष के अर्थ सृष्टि है तो एक वार की सृष्टि से संभव होने में वारंवार सृष्टि होना जैसा श्रुति स्मृति प्रमाण से सिद्ध है न होना चाहिये, उत्तर–

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ।।२।।

विरक्त को उसकी सिद्धि होने से।।२।।

एक वार की सृष्टि मे मोक्षं संभव नहीं है जन्म मरण व्याधि आदि विविध दुःख से जब जीव क्लेशित होता है तव प्रकृति पुरुप के त्रिवेक से उत्पन्न वैराग्य को प्राप्त होता है। उस विरक्त को उसकी (मोक्ष की) सिद्धि होती है।।२।। एक वार की सृष्टि से वैराग्य न होने का हेतु कहते हैं–

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ।।३।।

अनादि वासना के बलवान् होने से श्रवण मात्र से उसकी सिद्धि नहीं है।।३।।

वहुत जन्म के पुण्य से धर्म उपदेश का श्रवण होता है उस श्रवण मात्र से भी विना साक्षात्कार भये वैराग्य सिद्ध नहीं होता। साक्षात्कार अनेक जन्म की अनादि वासना के बलवान् होने से शीघ्र (जल्दी) नहीं होता योगनिष्ठा से होता है। योग में अनेक विघ्न होते हैं इससे अनेक जन्म के वैराग्य अभ्यास की सिद्धि से कभी किसी का मोक्ष होता है।।३।।

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ।।४।।

अथवा बहुत भृत्य के समान प्रत्येक को।।४।।

जैसे गृहस्थों को प्रत्येक को स्त्री पुत्र भृत्य आदि भेद से वहुत भरण पोषण के योग्य होते हैं। इसी प्रकार से सत्त्व आदि गुणों को प्रत्येक को असख्य पुरुष मोक्ष के योग्य होते हैं। इससे कितने ही पुरुष के मोक्ष प्राप्

होने पर भी अन्य पुरुषों के मोचन के अर्थ सृष्टि का प्रवाह होना घटित होता है क्योंकि पुरुष अनन्त है।।४।।

शंका–श्रुति में कहा है "एतस्मादात्मन आकाशः संभूत" इत्यादि अर्थ–इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुवा इत्यादि इससे प्रकृति मात्र का सृष्टि उत्पन्न करना क्यों कहना चाहिये पुरुष का भी सृष्टि करना श्रुति से सिद्ध होता है। उत्तर–

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ।।५।।

प्रकृति में वास्तवरूप होने में पुरुष के अध्यास की भी सिद्धि होती है।।५।।

प्रकृति में सृष्टि उत्पन्न करना वास्तव में सिद्ध होता है व पुरुष का प्रकृति के सम्बंध से सृष्टि के उत्पन्न करने में अध्यास मात्र श्रुति से सिद्ध होता है यथा सेवक स्वामी सम्बंध होने से राजा के सेवक योद्धाओं को जो जय अथवा पराजय होता है। उसका अध्यास (उपचार या आरोप) राजा में किया जाता है। इसी प्रकार से पुरुष की शक्तिरूप प्रकृति में वर्तमान सृष्टि उत्पन्न करने के धर्म का शक्ति व शक्तिमान् को अभेद भाव ग्रहण करके शक्तिमान् पुरुष में उपचार किया जाता है।।५।।

शंका–प्रकृति में क्यों वास्तवरूप सृष्टि करना निश्चय किया जाता है क्योंकि सृष्टि स्वप्न आदि के तुल्य भी सुनी जाती है। उत्तर–

कार्यतस्तत्सिद्धेः ।।६।।

कार्य से उसकी सिद्धि होने से।।६।।

महत्तत्त्व आदि कार्यों से जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है। कारणरूप प्रकृति का सृष्टि करना सिद्ध होता है क्योंकि कार्य कारण के परिणाम से होता है। पुरुष में परिणाम होने का प्रमाण नहीं होता इससे कारणरूप प्रकृति के परिणाम से वास्तव में प्रकृति से सृष्टि का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। स्वप्नवत् श्रुति के कहने का अभिप्राय स्वप्नवत् अनित्य मानने से है अन्यथा सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों में विरोध आवेगा।।६।।

शंका–मुक्त पुरुषों में भी प्रकृति क्यों प्रवृत्त नहीं होती? उत्तर–

चेतनोद्देशान्नियमः कंटकमोक्षवत् ।।७।।

चेतन के उद्देश से कांटा के मोक्ष के समान नियम है।।७।।

चेतन ज्ञानवान् के उद्देश (कहने) से कांटा के मोक्ष के समान प्रकृति का नियम है। अर्थात् जैसे कांटा जो ज्ञानवान् के लगता है तो उससे व छूट जाता है ज्ञानवान् उसको यत्न से निकाल डालता है। चेत (ज्ञानवान्) के दुःख देने को कांटा समर्थ नहीं होता और वही अज्ञान को पशु आदि को जो नहीं निकाल सकता दुःख देता है। इसी प्रकार प्रकृति ज्ञानवान् कृतार्थ से छूट जाती है। उसको दुःखात्मिका नहीं होत अन्य अज्ञानियों को दुःखात्मिका होती है। यह नियम की व्यवस्था है इससे मुक्त पुरुषों से छूटने से प्रकृति का भी मोक्ष होना घटित होता इसी से मुक्त पुरुष में प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती।।७।।

शंका–पुरुष में सृष्टि की उत्पत्ति की शक्ति होना अध्यस्त मात्र होन जो कहा जाता है यह यथार्थ नहीं है। प्रकृति के संयोग से पुरुष का महत्तत्त्व आदि में परिणाम होना उचित है, उत्तर–

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ।।८।।

अन्य योग में भी प्रत्यक्ष से लोह के दाह के समान उसकी सिद्धि नहीं है।।८।।

अन्य के योग में भी अर्थात् प्रकृति के योग में भी प्रत्यक्ष से लोह दाह के तुल्य उसकी अर्थात् पुरुष के सृष्टि उत्पन्न करने की सिद्धि न है। अभिप्राय यह है कि, जैसे लोह में साक्षात् दग्ध करने की शक्ति न है केवल अपने संयुक्त अग्निद्वारा दाह करनेवाला अध्यस्त मात्र है। इ प्रकार से प्रकृति के संयोग द्वारा पुरुष का कर्त्ता होना है स्वाभावि कर्तृव्य नहीं है।।८।।

अब सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण कहते हैं–

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।।९।।

राग में सृष्टि होती है विराग में योग होता है।।९।।

राग सृष्टि का कारण है विराग से योग होता है योग में सब वृत्ति के निरोध होने व आत्मज्ञान होने से मुक्ति होती है। इससे विराग मु

का कारण है।।९।।

अब सृष्टि प्रक्रिया वर्णन किया जाता है।

महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् ।।१०।।

महत्तत्त्व आदि के क्रम से पांच भूतों की सृष्टि।।१०।।

सृष्टि शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से होती है महत्तत्त्व आदि के क्रम से जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है पंच भूतों की सृष्टि होती है। शंका–इस श्रुति में "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुम्" अर्थ–उसने प्राण को उत्पन्न किया प्राण से श्रद्धा को आकाश को वायु को पंच भूत से पहिले प्राण की सृष्टि को कहा है उत्तर–प्राण अंत:करण के वृत्ति का भेद है। यह आगे वर्णन किया जायगा इससे इस श्रुति में प्राण ही महत्तत्त्व के अभिप्राय से कहा गया है अर्थात् प्राण शब्द से महत्तत्त्व को कहा है।।१०।।

आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थआरंभः ।।११।।

सृष्टि का आत्मा के अर्थ होने से इनके आत्मा के अर्थ में आरंभ नहीं है।।११।।

सृष्टि का आत्मा के अर्थ अर्थात् पुरुष के मोक्ष के लिये होने से इनके आत्मा अर्थात् महत्तत्त्व आदिकों के आत्मा के अर्थ आरंभ नहीं है अर्थात् महत्तत्त्व आदिकों का अपने लिये सृष्टि करने का आरंभ नहीं है क्योंकि महत्तत्त्व आदिकों का कार्यरूप होने से विनाशी अनित्य होने से मोक्ष के साथ योग नहीं है।।११।।

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ।।१२।।

दिशा काल व आकाश आदिकों से।।१२।।

आकाश प्रकृति (कारण) से दिशा व काल कार्य उत्पन्न हुये हैं व आकाश के तुल्य विभु हैं आदि शब्द से उपाधियों को ग्रहण किया है। अर्थात् दिशा व काल दोनों आकाश के कार्य व विभु हैं जो खण्डरूप दिशा व काल होते हैं। वह अपने अपने उपाधि भेद से आकाश से उत्पन्न होते हैं। आकाश के गुण विशेष जो सर्वगत विभु होना व नित्य होना है। वह दिशा काल में होने व आकाश के साथ सम्बंध होने से व आकाश

अखण्ड नित्य होने से व काल दिशा में उपाधि भेद से खण्डरूप माने जाने से दिशा व काल को कार्य व आकाश को प्रकृतिरूप कहा है।।१२।।

अध्यवसायो बुद्धिः ।।१३।।

निश्चयरूपा बुद्धि है।।१३।।

महत्तत्त्व का पर्याय बुद्धि है अर्थात् महत्तत्त्व व बुद्धि दोनों शब्द का एक ही अर्थ है निश्चय करना बुद्धि की वृत्ति है। इससे निश्चयरूप कहा बुद्धि को महत्तत्त्व इससे कहते हैं कि अपने व पर के सकल कार्यों में व्यापक है।सब में व्यापक होने से महा उत्कृष्ट तत्त्व माना है।।१३।।

तत्कार्यं धर्मादि ।।१४।।

उसके कार्य धर्म आदि हैं।।१४।।

उस (महत्तत्त्व) के कार्य धर्म आदि हैं धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य कार्यो का उपादान बुद्धि है। अहंकार नहीं है बुद्धि ही का अतिशय सत्त्व का कार्य होना प्रमाण से सिद्ध होता है।।१४।।

शंका–जो महत्तत्त्व के कार्य धर्म आदि उत्तम गुण हैं तो सम्पूर्ण प्राणियों में अधर्म की प्रवलता क्यों होती है? इसका उत्तर वर्णन करते हैं–

महदुपरागाद्विपरीतम् ।।१५।।

महत्तत्त्व उपराग से विपरीत होता है।।१५।।

महत्तत्त्व रजोगुण व तमोगुण के उपराग से वा सम्बंध से विपरीत होता है। क्षुद्रधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य का कारण होता है। कारण रूप बुद्धि प्रकृति में लय हो नित्य रहती है कार्य रूप परिणाम को प्राप्त होती है एवं अनित्य है।।१५।।

अभिमानोऽहंकारः ।।१६।।

अभिमान अहंकार है।।१६।।

'मैं हूं मैं कर्त्ता हूं' इस भाव को अभिमान वा अहंकार कहते हैं। यह अहंकार अंतःकरण द्रव्य है अभिमान उसकी वृत्ति वा उसका धर्म है। परंतु धर्म धर्मी को अभेद मानकर अभिमान अहंकार है। यह कहा है निश्चय बुद्धि की वृत्ति है निश्चित अर्थ ही में मैं मेरा यह ज्ञान अहंकार

की वृत्ति रूप उत्पन्न होता है। निश्चय व अभिमान वृत्तियों के कार्य कारण भाव के अनुसार वृत्तिमानों का कार्य कारण भाव माना जाता है। अर्थात् बुद्धि वा महत्तत्त्व के कार्य अहंकार माना जाता है जैसा पूर्व ही कहा गया है।।१६।।

एकादशपंचतन्मात्रं तत्कार्यम् ।।१७।।

ग्यारह व पांच उसके मात्रा उसके कार्य हैं।।१७।।

ग्यारह इन्द्रिय व शब्द आदि पांच उसके मात्रा उसके अर्थात् अहंकार के कार्य हैं। मुझे इस इन्द्रिय से यह रूप आदि भोग के योग्य हैं यही सुख का साधन है इत्यादि के अभिमान ही से आदि सृष्टि वा उत्पत्ति में इन्द्रिय व उनके विषयों की उत्पत्ति होने से अहंकार इन्द्रिय आदि का हेतु हैं। लोक में भोग अभिमानी ही का राग द्वारा भोग में प्रवृत्त होना देखा जाता है। भूत व इन्द्रिय के मध्य में राग धर्मयुक्त जो मन है वही आदि में अहंकार से उत्पन्न होता है क्योंकि मन से राग होने से शब्द आदि कार्य होते हैं व शब्दरूप आदि मात्रों के भोग में राग होने से भोग के करण श्रवण चक्षु आदि इन्द्रिय कार्य उत्पन्न होते हैं। स्मृति में मोक्षधर्म में हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के राग ही से चक्षु आदि की उत्पत्ति कहा है यथा "रूपरागादभूच्चक्षुः" इत्यादि, अर्थ रूप के राग से चक्षु (नेत्र) उत्पन्न हुये इत्यादि। इससे अनुमान व स्मृति प्रमाण से अहंकार से मन मन से राग राग से शब्द आदि पांच मात्रा व मात्राओं से दश बाह्य इन्द्रिय कार्यों का उत्पन्न होना सिद्ध होता है।।१७।।

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।।१८।।

विकार को प्राप्त अहंकार से ग्यारहवाँ अहंकार का सात्त्विक कार्य प्रवृत्त होता है।।१८।।

ग्यारहवाँ जो दश इन्द्रिय के पश्चात् मन है वह षोडश गण मध्य मे सात्त्विक है व विकार को प्राप्त जो अहंकार है। उससे प्रवृत्त होता है, अभिप्राय यह है कि, अहंकार तीन प्रकार का होता है सात्त्विक, राजस, तामस, सात्त्विक अहंकार से सात्त्विक मन प्रवृत्त होता है अर्थात् उत्पन्न होता है। तथा राजस अहंकार से दश इन्द्रिय व तामस से पंच मात्रा

उत्पन्न होते हैं।।१८।।

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ।।१९।।

कर्मइन्द्रिय ज्ञानइन्द्रिय सहित अंतर का ग्यारहवाँ है।।१९।।

वाक्, हस्त, पाद, पायु, (गुदा) व उपस्थ (लिंग वा योनि) ये पांच कर्म इन्द्रिय हैं, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा नेत्र, ये पांच ज्ञान इन्द्रिय हैं। इन दश इन्द्रियों सहित अंतर इन्द्रिय ग्यारहवाँ मन है यह अर्थ है।।१९।।

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ।।२०।।

श्रुति से आहंकारिक होना सिद्ध होने से भौतिक नहीं है।।२०।।

श्रुति प्रमाण से अहंकार के कार्य होना सिद्ध होने से इन्द्रियां भौतिक नहीं है। "इन्द्रिय भौतिक नहीं हैं" यह कहने में इन्द्रिय शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है। इन्द्रियों के आहंकारिक होने की जो श्रुति है। वह इस काल में वेद के शाखाओं के लोप हो जाने से नहीं मिलती तथापि आचार्य के वाक्य से मानने के योग्य है। यद्यपि 'एकोहं बहुस्याम्' अर्थ—एक बहुत होऊं यह भी अहंकार सूचक श्रुति है व भौतिक होने के प्रमाण में भी श्रुति हैं। परंतु आहंकारिक श्रुति के मुख्य होने से भौतिक श्रुति गौणी मानना चाहिये।।२०।।

शंका—भौतिक श्रुति को गौणी अंगीकार करने से भी आहंकारिक होना घटित नहीं होता क्योंकि यह श्रुति है। "अस्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्" अर्थ—इस पुरुष की वाक् अग्नि में लय होती है प्राण वायु में लय होते हैं नेत्र सूर्य्य में लय होते हैं और देवताओं में इन्द्रियो के लय होने से देवताओं का उपादान होना भी ग्रहण होता है क्योंकि कारण ही में कार्य लय होता है। उत्तर—

देवतालयश्रुतिर्नारंभकस्य ।।२१।।

देवताओं में लय होने की जो श्रुति है वह आरंभक की नहीं है, अर्थात् आरंभक विषय सम्बंधी नहीं है।।२१।।

अग्नि आदि देवताओं में लय होने की जो श्रुति है वह कार्य आरंभक कारण के विषय में नहीं है। क्योंकि जो आरंभक (आदि में उत्पन्न करनेवाला) नहीं है। उसमें भी लय होना देखा जाता है—'भूतल में

जलबिंदु का लय होना' आदि इसी प्रकार से देवताओं में इन्द्रियों के लय होने में श्रुति है।।२१।।

कोई मन को नित्य मानते हैं इस संदेह निवारण के अर्थ इन्द्रियों को अनित्य वर्णन करते हैं।

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ।।२२।।

उनकी उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध होने से व नाश देखने से भी।।२२।।

उनकी अर्थात् सब इंद्रियों की उत्पत्ति है यथा श्रुति में कहा है। "एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" अर्थ—इससे आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है तथा भाव व सब इन्द्रियां भी जो उत्पन्न होता है। वह नाश होता है यह अनुमान से सिद्ध है व वृद्धावस्था आदि में नेत्र आदि के सदृश मन के क्षीण होने से विनाश होने का निर्णय होता है। मन के नित्य होने का वचन प्रकृति बीज पर है यह मानना चाहिये।।२२।।

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रांतानामधिष्ठाने ।।२३।।

इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं भ्रान्तों को अधिष्ठान में (अधिष्ठान में बोध होता है)।।२३।।

इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं अर्थात् अति सूक्ष्म हैं प्रत्यक्ष नहीं हैं भ्रान्तों को अधिष्ठान में अर्थात् भ्रान्त जो भ्रम को प्राप्त हैं। उनको अधिष्ठान में (गोलक में) इन्द्रियों का होना बोध होता है। अर्थात् गोलक व इन्द्रिय में भेद नहीं मानते।।२३।।

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ।।२४।।

शक्ति भेद होने में भी भेद की सिद्धि होने में एक होना सिद्ध नहीं है।।२४।।

कोई यह कहते हैं कि, इन्द्रिय एक ही है शक्ति भेद मे उसमे विलक्षण कार्य होते हैं। इस मत के प्रतिषेध के लिये यह कहा है कि, एक इन्द्रिय के शक्ति भेद अंगीकार करने में भी शक्तियों के भी इन्द्रिय होने से इन्द्रिय भेद सिद्ध होता है। इससे इन्द्रिय का एक होना सिद्ध नहीं होता और जो भेद सिद्ध है तो भिन्न शब्द कल्पना मात्र से अर्थात् इन्द्रिय शब्द के स्थान में शक्ति भेद शब्द कहने से एकता की सिद्धि नहीं होती।।२४।।

शंका—एक अहंकार से नानाविध की इन्द्रियों की कल्पना करने में विरोध होगा। उत्तर—

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

प्रमाणदृष्ट का कल्पना विरोध नहीं है॥२५॥

जो प्रत्यक्ष प्रमाण से नानाविध इन्द्रियों का होना दृष्ट है। अर्थात् देखा हुवा है एवं प्रत्यक्ष से सिद्ध है उसमें कल्पना विरोध नहीं हो सकता॥२५॥

उभयात्मकं मनः ॥२६॥

दोनों इन्द्रियात्मक मन है॥२६॥

ज्ञानइन्द्रिय व कर्मइन्द्रिय दोनों इन्द्रियात्मक मन है॥२६॥

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥

गुणों के परिणाम भेद से अवस्था के तुल्य नाना भेद होना सिद्ध होता है॥२७॥

यथा एक ही मनुष्य स्त्री के साथ कामी, विरक्त के साथ विरक्त, अन्य के साथ अन्य होता है। इसी प्रकार से मन चक्षु आदि के संग चक्षु आदि में एकभाव होकर दर्शन आदि विशेष वृत्तियों से नाना होता है। क्यों नाना अर्थात् अनेक प्रकार का होता है सत्त्व आदि गुणों के परिणाम भेद में समर्थ होने से यह सूत्र का अर्थ है॥२७॥

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥२८॥

रूप आदि रसमलान्त दोनों के॥२८॥

रूप आदि से रूप रस गंध स्पर्श शब्द अभिप्राय है अन्न रसों का मल विष्ठा है। मल तक इन्द्रिय का विषय है क्योंकि गुदा इन्द्रिय से मलत्याग होता है। तात्पर्य यह है कि, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये ज्ञान इन्द्रिय के विषय, व बोलना, देना, चलना, मैथुन करना, मलत्याग करना ये कर्म इन्द्रिय के विषय हैं यह मलत्याग पर्य्यंत दोनों इन्द्रियों के दश विषय हैं॥२८॥

द्रष्टृत्वादिरात्मनःकरणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥२९॥

द्रष्टा होना आदि आत्मा का करण होना इन्द्रियों का॥२९॥

द्रष्टा होना आदि अर्थात् देखनेवाला होना आदि पांच रूप आदि विषयों का ग्राहक होना व वक्ता होना आदि पांच कर्म इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होना व संकल्प कर्त्ता होना यह द्रष्टा होना आदि आत्मा का अर्थात् पुरुष का दर्शन आदि वृत्तियों में होता है। करण होना इन्द्रियों का धर्म है। जो यह शंका हो कि अविकारी पुरुष में द्रष्टा कर्त्ता होना आदि कैसे घटित होना है तो पूर्वोक्त के अनुसार यथा चुम्बक के समीप होने ही से लोह में सञ्चलन होता है। उसका कारण चुम्बक ही हो जाता है अथवा सैन्य करण करके आज्ञामात्र से राजा युद्ध करता है। शरीर से राजा आप कुछ नहीं करता युद्ध योद्धा करते हैं परंतु जय व पराजय होना राजा ही का कहा जाता है। इसी प्रकार से द्रष्टा होना आदि पुरुष में कहा जाता है। यह जानना चाहिये सन्निधि मात्र से इन्द्रिय करणों से कर्त्ता है स्वरूप से पुरुष कर्त्ता नहीं है।।२९।।

त्रयाणां स्वलाक्षण्यम् ।।३०।।

तीनों का अपने अपने लक्षण का भाव है।।३०।।

तीनों का अर्थात् महत्तत्त्व अहंकार व मन का अपने अपने लक्षण का भाव है। यथा निश्चय आदि उत्कृष्ट गुण होना महत्तत्त्व का लक्षण है, अपने आत्मा में विद्यमान गुण का आरोप करना अहंकार का लक्षण है, संकल्प विकल्प करना मन का लक्षण है इन लक्षणों से अपने अपने लक्षणों से तीनों का प्रत्यय होता है।।३०।।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच ।।३१।।

प्राण आदि रूप पंच वायु करण की (अंतःकरण की) सामान्य (साधारण) वृत्ति है।।३१।।

वायु के समान सञ्चार होने से प्राण आदि रूप से जो पांच वायु अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व व्यान नाम से प्रसिद्ध हैं। वे अन्तःकरण की सामान्य (साधारण) वृत्ति है। अर्थात् अंतःकरण त्रय के परिणाम भेद हैं। अन्य प्राण आदि को वायुरूप वायु भेद मानते हैं। कोई आचार्य वायु से पृथक् प्राण आदि को अन्तःकरण के परिणाम वा कार्यभेद स्वीकार करके अन्तःकरण की वृत्ति कहा है। वायुनाम से कहने

का आशय यह है कि वायु के समान संचार होने से वायु नाम से कहे जाते हैं। प्राण वायु हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में उदान कण्ठ में और व्यान सब शरीर में रहता है। ये प्राण आदि के स्थान हैं।।३१।।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृतिः ।।३२।।

क्रम व विनाक्रम इन्द्रिय की वृत्ति है।।३२।।

प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान होता है पश्चात् क्रम से सविकल्पक ज्ञान होता है। अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गंध इन विषयों में प्रथम इन्द्रिय द्वारा आलोचन ज्ञान विना विशेषण के होता है उसको निर्विकल्प कहते हैं। फिर उत्तर काल में वस्तु के धर्मों से द्रव्य रूप धर्मों से जाति आदि से जो विशिष्ट ज्ञान होता है उसको सविकल्पक कहते हैं। आलोचन ज्ञान ही के दो भेद हैं अर्थात् निर्विकल्पक सविकल्पक दो प्रकार का ऐन्द्रियिक ज्ञान आलोचन नाम से कहा जाता है। कोई निर्विकल्पक ज्ञान मात्र को आलोचन व इन्द्रिय जन्य कहते हैं और सविकल्पक को मन मात्र से जन्य (उत्पन्न के योग्य) कहते हैं। परंतु सविकल्पक को अर्थात् विशिष्ट ज्ञान को भी इन्द्रियों से विशिष्ट ज्ञान होने में बाधक होने के अभाव से सूत्र में ऐन्द्रियिक कहा है। अर्थात् इन्द्रिय की वृत्ति गाना है। कोई यह कहते हैं कि, बाह्य इन्द्रियों से ले करके बुद्धि पर्य्यंत की वृत्ति की उत्पत्ति क्रम से होती है। कभी व्याघ्र आदि देखने के काल में भय विशेष से विद्युल्लता के समान सब इन्द्रियों में एक ही वार वृत्ति हो जाती है। यह कहना असत् है सूत्र में इन्द्रियों की वृत्तियों मात्र को क्रमिक अक्रमिक कहा है बुद्धि व अहंकार वृत्तियों का प्रसंग नहीं है। एक ही बार अनेक इन्द्रियों की वृत्ति होने में संशयरूप विरुद्ध पक्ष प्राप्त होने से उसके निर्णय के अर्थ व मन के अणु होने के प्रतिषेध के अर्थ सूत्र में क्रम से व विना क्रम से इन्द्रिय वृत्ति होने का वर्णन किया है।।३२।।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।।३३।।

क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद से पांच प्रकार की वृत्तियां हैं।।३३।।

दु:ख की देनेवाली सांसारिक जो पांच वृत्तियां हैं वे क्लिष्ट कही जाती हैं और जो योगकाल की पांच वृत्तियां हैं वे अक्लिष्ट अर्थात् उनके

विपरीत कही जाती हैं। यथा–अविद्या (अज्ञान) अस्मिता (अहंकार होना) राग, द्वेष व अभिनिवेश (मरण की त्रास) ये पांच क्लिष्ट हैं और प्रमाण विपर्यय, (विपरीत ज्ञान) विकल्प, निद्रा, स्मृति ये पांच अक्लिष्ट वृत्तियां हैं। प्रमाण का वर्णन पूर्व ही हो चुका है। विवेक विरुद्ध अयथार्थ ज्ञान विपर्यय है। किसी से मनुष्य के सींग सुनकर यह जानकर भी कि, मनुष्य के सींग नहीं होते तथापि यह कल्पना करना कि, होते होंगे यह विकल्पक है। निद्रा स्मृति साधारण है विशेष व्याख्यान विपर्यय आदि का योग दर्शन में देखना चाहिये।।३३।।

तन्निवृत्तावुपशांतोपरागः स्वस्थः ।।३४।।

उनके निवृत्त होने में शांतोपराग हो स्वस्थ होता है।।३४।।

उनके अर्थात् वृत्तियों के निवृत्त होने की दशा में शांतोपराग हो अर्थात् सम्पूर्ण विषयों के राग से रहित होकर स्वस्थ होता है। अर्थात् कैवल्य आनन्द को प्राप्त होता है।।३४।।

कुसुमवच्च मणिः ।।३५।।

कुसुम के समान जैसे मणि।।३५।।

जैसे जपा कुसुम (गोंडहर के फूल) के प्रतिविंब से स्फटिक मणि जपा कुसुम के समान अरुण हो जाती है और उसके न रहने पर फिर अपने शुक्ल रूप को प्राप्त हो जाती है और उपाधि जनित अरुणता दूर हो जाती है। इसी प्रकार से प्रकृति की जो वृत्तियां हैं उनकी निवृत्ति से पुरुष निज स्वरूप में स्वस्थ होता है व आनन्द को प्राप्त होता है।। ३५।।

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।।३६।।

पुरुष के लिये करण का उत्पन्न होना भी अदृष्ट के प्रकट होने से।।३६।।

पुरुष के अर्थात् अदृष्ट के प्रगट होने से जैसे प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार से पुरुष के अर्थ करणों (इंद्रियों) की प्रवृत्ति वा उत्पत्ति होती है। अदृष्टवश से करणों की प्रवृत्ति इससे कहा है कि करणों का प्रवृत्त करनेवाला पुरुष नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व ही पुरुष को क्रिया रहित कूटस्थ अंगीकार किया है व ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं माना

इससे अदृष्ट को प्रवर्तक माना है॥३६॥

शंका—पर के अर्थ आपसे करण किस प्रकार से प्रवृत्त होते हैं? उसका दृष्टांत यह है—

धेनुवद्वत्साय ॥३७॥

वत्स के अर्थ धेनु के समान॥३७॥

यथा गौ वत्स के लिये अपने ही से दुग्ध स्रवती है कोई यत्न की अपेक्षा नहीं होती ऐसा स्वभाव ही है। इसी प्रकार से अपने स्वामी पुरुष के अर्थ करण आप ही प्रवृत्त होते हैं सुषुप्त से अपने ही से बुद्धि का उठना वा प्रगट होना प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है॥३७॥

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥३८॥

अवान्तर भेद से तेरह विध के करण हैं॥३८॥

तीन अंतःकरण वे दश बाह्य इंद्रिय ये तेरह विध के करण हैं मुख्य करण केवल एक बुद्धि है। उसके ये सब भेद हैं इससे यह कहा है कि, अवांतर भेद से अर्थात् भिन्न कार्य भेद से तेरह हैं॥३८॥

शंका—जो बुद्धि मुख्य करण है और अन्य गौण हैं तो उनके गौण माने जाने का हेतु कौन गुण वा धर्म है? उत्तर—

इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात्कुठारवत् ॥३९॥

इन्द्रियों में अतिसाधक होने के गुणयोग से कुठारके सदृश गुण है॥३९॥

इन्द्रियों में परम्परा करके पुरुषार्थ का अतिसाधक होना कारण स्वरूप बुद्धि का गुण है। इससे तेरह प्रकार के कारण होना सिद्ध होता है। यह पूर्व सूत्र के साथ अन्वय (सम्बंध वा मेल) है कुठारके सदृश कहने का अभिप्राय यह है कि, यथा काटने में योग भिन्न करना अर्थात् योग से पृथक् वा विभाग कर देना ही फल होने से प्रहार ही का मुख्य करणत्व है तथापि अतिसाधन गुण के योग से कुठारका भी करणत्व है। अर्थात् कुठारका करण होना सिद्ध होता है। इसी प्रकार से यद्यपि मुख्य करण बुद्धि है तथापि अतिसाधक होने से इन्द्रियों को करणत्व है॥३९॥

द्वयोः प्रधानं बुद्धिर्लोकवद्भृत्यवर्गेषु ॥४०॥

दोनों में प्रधान बुद्धि भृत्यवर्गों में लोक के समान है।।४०।।

दोनों में वाह्य व अंतर के करणों (इन्द्रियों) के मध्य में बुद्धि ही प्रधान है। अर्थात् मुख्य है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थ के पुरुष में समर्पण करने में वाह्य व अन्तर के जो मन चक्षु आदि करण हैं उन सबमें उत्कृष्ट है। जैसे राजा का कोई प्रधान भृत्य सब भृत्यवर्गों में अर्थात् सेवक वर्गों में मुख्य होता है। इसी प्रकार से बुद्धि सब करणों में प्रधान है।।४०।।

बुद्धि के प्रधान होने में हेतु वर्णन करते हैं–

अव्यभिचारात् ।।४१।।

व्यभिचार न होने से।।४१।।

अन्य इन्द्रिय अपने अपने विषय विशेष मात्र के ग्रहण करने में समर्थ हैं। अन्य इन्द्रिय अन्य इन्द्रिय के विषय के ग्रहण में समर्थ नहीं हैं। बुद्धि सब करणों में व्यापक होने से सब करणों (इन्द्रियों) के विषयों को ग्रहण करती है। किसी इन्द्रिय के विषय ग्रहण करने में निश्चय वृत्ति वा धर्मवान् बुद्धि का व्यभिचार नहीं होता सबमें व्यापक होने व फल में व्यभिचार न होने से बुद्धि की प्रधानता है।।४१।।

तथाशेषसंस्काराधारत्वात् ।।४२।।

तथा सम्पूर्ण संस्कार के आधार होने से।।४२।।

यथा व्यभिचार न होने से बुद्धि की प्रधानता है तथा सम्पूर्ण संस्कार के आधार होने से प्रधानता है। क्योंकि चक्षु आदि अथवा अहंकार मन संस्कार के आधार नहीं हो सकते जो पूर्व ही देखा वा सुना है। उसके स्मरण को नेत्र आदि कोई बाह्य इन्द्रियां समर्थ नहीं हैं। क्योंकि स्मरण करना बाह्य इन्द्रियों का गुण नहीं है जो बाह्य इन्द्रियों का धर्म होता तो अंध बधिर को रूप व शब्द का स्मरण न होता। यद्यपि अंध बधिर को रूप व शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता परंतु स्मरण होने से बाह्य इन्द्रियों का धर्म नहीं है यह सिद्ध होता है। जो मन व अहंकार का धर्म कहा जाय तो तत्त्वज्ञान में जब मन व अहंकार का लय हो जाता है। तब भी स्मरण होता है इससे सम्पूर्ण संस्कार की आधार बुद्धि है व स्मरण बुद्धि का धर्म है सब संस्कार के आधार होने से बुद्धि की प्रधानता है।।४२।।

स्मृत्यानुमानाच्च ।।४३।।

स्मृतिद्वारा अनुमान से भी।।४३।।

स्मृतिद्वारा अनुमान होने से भी बुद्धि की प्रधानता है। क्योंकि स्मृति से अनुमान करना बुद्धि का कार्य है अन्य इन्द्रिय का नहीं है।।४३।।

संभवेन्न स्वतः ।।४४।।

आपसे संभव न होगा।।४४।।

जो यह कहा जाय कि स्मृति पुरुष की वृत्ति है इसका उत्तर यह है कि, आपसे पुरुष में स्मृति होना संभव न होगा। अर्थात् विना बुद्धि पुरुष में स्मरण न होगा अथवा जो यह कहा जाय कि, बुद्धि मुख्य करण है। इससे बुद्धि में सब ज्ञान होना चाहिये इसके उत्तर में यह कहा है कि, विना चक्षु आदि कारणों के द्वारा बुद्धि का आपसे करण होना संभव न होगा व विना चक्षु आदि बुद्धि का करण होना सिद्ध नहीं होता अन्यथा अंधे आदि को भी रूप आदि का ज्ञान होना चाहिये यह अर्थ व भाव है।।४४।।

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ।।४५।।

क्रिया विशेष से गुण प्रधानभाव आपेक्षिक है।।४५।।

आपेक्षिक है अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा अपने अपने क्रिया विशेष से प्रधान है। यथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापार में मन, मन के व्यापार में अहंकार, अहंकार के व्यापार में बुद्धि प्रधान है।।४५।।

तत्कर्मार्जिजतत्वात्तदर्थमभिचेष्टालोकवत् ।।४६।।

उसके कर्म से अर्जित (प्राप्त वा लब्ध) होने से लोक के तुल्य उसके अर्थ व्यापार होता है।।४६।।

उसके (पुरुष के) कर्म से अर्जित (लब्ध वा प्राप्त) किया हुआ जो करण है उसका उसके अर्थ अर्थात् उसी पुरुष के अर्थ लोक के तुल्य व्यापार होता है। अर्थात् यथा लोक में जिस पुरुष से मोल लेने आदि का कर्म से कुठार आदि करण अर्जित होता है। उसी पुरुष के अर्थ उसका काटने आदि का व्यापार होता है अर्थात् उसी पुरुष के काम आता है। इसी प्रकार से पुरुष के सन्निधि वा संयोग ही से बुद्धि की उत्पत्ति वा

बुद्धि में शक्ति होने से बुद्धि पुरुष ही का कारण है तथा पुरुष ही के अर्थ उसका व्यापार है। यद्यपि कूटस्थता से पुरुष में कर्म नहीं है तथापि यथा योद्धाओं का जय पराजय राजा का जय पराजय कहा जाता है। इसी प्रकार से पुरुष के भोक्ता व स्वामी होने से पुरुष का कर्म उपचार से कहा है।।४६।।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ।।४७।।

समान कर्मयोग में बुद्धि का प्राधान्य है लोक के समान लोक के समान।।४७।।

यद्यपि पुरुष के अर्थ साधन भाव से सब कारण कर्म योग में समान हैं। तथापि बुद्धि की प्रधानता है जैसे लोक में सब राजा के भृत्य राजा के सेवक होने के भाव से समान हैं। तथापि जो राजा का मंत्री वा कार्य का अधिकारी होता है वही प्रधान होता है और सब उसके आज्ञाकारी व अधीन होते हैं इससे बुद्धि सब में उत्कृष्ट महत्तत्त्व है।।४७।।

इति श्रीप्रभुदयालुशास्त्रविन्निर्मिते सांख्यदर्शन देशभाषाभाष्ये

द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

इसके उपरांत प्रधान के स्थूल कार्य महाभूत शरीर का वर्णन व विविध योनि गति आदि ज्ञान साधन अनुष्ठान के हेतु अपर वैराग्य के अर्थ उसके उपरांत पर वैराग्य के अर्थ सम्पूर्ण ज्ञान साधन के वर्णन में तृतीय अध्याय का प्रारंभ किया जाता है–

अविशेषाद्विशेषारंभः ।।१।।

अविशेष से विशेष का आरंभ होता।।१।।

जिनमें शांत घोर मूढ़ यें विशेषण नहीं हैं ऐसे जो अविशेष पंचतन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं। उनसे विशेष स्थूल महाभूतों का आरंभ होता है अर्थात् मात्राओं की अविशेष संज्ञा है स्थूलभूतों की विशेष संज्ञा है। पंच मात्राओं से स्थूलभुतों की उत्पत्ति होती है यह अर्थ है।।१।।

पूर्व अध्याय से लेकर यहाँ तक तेईस तत्त्वों को कहकर अब शरीर की उत्पत्ति कहते हैं।।

तस्माच्छरीरस्य ।।२।।

तिससे शरीर का।।२।।

तिस अर्थात् उक्त (कहे हुए) सूक्ष्म स्थूल तेईस २३ तत्त्व से शरीर का आरंभ होता है। अर्थात् शरीर की उत्पत्ति होती है आरंभ होने शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है।।२।।

तद्बीजात्संसृतिः ।।३।।

उसके बीज से संसृति होती है।।३।।

उसके (शरीर के) बीज से अर्थात् शरीर का बीज जो २३ तेईस तत्त्वरूप सूक्ष्म शरीर है। उससे पुरुष की संसृति (गमनागमन) होती है। यद्यपि पूर्वोक्त हेतुओं से पुरुष का आपसे गत आगत होना संभव नहीं

होता। परंतु उपाधि अवस्था भेद से जैसा पूर्व ही कहा गया है वैसा पुरुष का गमन आगमन होता है। अर्थात् उपाधि से पुरुष पूर्वकृत कर्मफल के भोग के अर्थ देह त्यागकर अन्य देह को जाता है।।३।।

अविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ।।४।।

अविवेक से अविशेषों का प्रवर्तन होता है।।४।।

अविवेक से अविशेष अर्थात् ईश्वरत्व अनीश्वरत्व आदि विशेषता रहित सब पुरुषों को जब तक विवेक नहीं होता तब तक प्रवर्तन अर्थात् संसृति होती है। विवेक से उत्तर संसृति का नाश होता है।।४।। विना विवेक संसृति के नाश न होने का हेतु क्या है यह वर्णन करते हैं–

उपभोगादितरस्य ।।५।।

इतर के उपभोग से।।५।।

इतर विवेकी से भिन्न जो अविवेकी है उसके उपभोग से अर्थात् अज्ञानी के किये हुए कर्म का फलभोग अवश्य होने से अज्ञानी की संसृति का नाश नहीं होता।।५।।

संसृतिपरिमुक्तो द्वाभ्याम् ।।६।।

वर्तमान संसृति काल में दोनों से मुक्त होता है।।६।।

संसृति काल में दोनों से अर्थात् शीत उष्ण के सुख दु:ख आदि द्वंद्व से पुरुष मुक्त अर्थात् रहित हो जाता है।।६।।

मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ।।७।।

बाहुल्य से स्थूल शरीर माता पिता से उत्पन्न है इतर वैसा अर्थात् ऐसा नहीं है।।७।।

बाहुल्य करके वा बाहुल्य से अर्थात् अधिकता से वा बहुधा स्थूल शरीर माता पिता से उत्पन्न है। बाहुल्य से इससे कहा है कि, कहीं तपोबल आदि कर्म विशेष से विना योनि भी स्थूल शरीर होना सुना जाता है। सामान्य से माता पिता से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इतर सूक्ष्म नहीं है अर्थात् सूक्ष्म शरीर माता पिता से उत्पन्न नहीं होता।।७।।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्यनेतरस्य ।।८।।

सृष्टि के आदि में जिसकी उत्पत्ति है ऐसे लिंग शरीर ही को एक का भोग होने से अन्यको न होने से उसका कार्यत्व (सुख दुःख) है।।८।।

सृष्टि के आदि में सूक्ष्म लिंग शरीर जो उत्पन्न होता है। उसी का सुख दुःख कार्य संयुक्त होना सिद्ध होता है। क्योंकि लिंग शरीर ही को सुख दुःख का भोग होता है। स्थूल मृतशरीर में सुख दुःख का अभाव होता है इससे स्थूल में भोग होना सिद्ध नहीं होता।।८।।

सप्तदशैकं लिंगम् ।।९।।

सत्रह तत्त्वों का लिङ्ग शरीर होता है।।९।।

ग्यारह इंद्रिय पांच तन्मात्रा व बुद्धि यह सतरह तत्त्वसंयुक्त लिंग शरीर होता है। अहंकार को लिंग शरीर में बुद्धि के अंतर्गत मानकर भिन्न नहीं कहा।।९।।

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ।।१०।।

व्यक्तिभेद कर्मविशेष से होता है।।१०।।

कर्मविशेष से व्यक्तिभेद अर्थात् पुरुष स्त्री पशु योनि आदि शरीरों का भेद होता है। कर्म अनुसार कर्म भोग के अर्थ नाना प्रकार के शरीर होते हैं यह भाव है।।१०।।

तदधिष्ठानाश्रयदेहे तद्वादात्तद्वादः ।।११।।

उसके अधिष्ठान के आश्रय देह में उसके वाद से उसका वाद है।।११।।

उसके अर्थात् लिंग के अधिष्ठान (आश्रय) देह में अर्थात् लिंग का आश्रय जो सूक्ष्म पंचभूत रचित देह है। जिसका आगे वर्णन होगा उसका आश्रय जो षाट्कौशिक देह है। उसमें उसके वाद से अर्थात् लिंग के अधिष्ठान देह के वाद से उसका वाद है अर्थात् षाट्कौशिक जो स्थूल देह है उसका वाद है। यह अर्थ है लिंग के सम्बंध से अधिष्ठान का देह होना सिद्ध होता है व अधिष्ठान का आश्रय होने से स्थूल का देह होना सिद्ध होता है यह भावार्थ है। इस प्रकार से तीन शरीर सिद्ध होते हैं। अन्यत्र जो लिंग शरीर व स्थूल शरीर दोनों ही का वर्णन किया है।

तीसरा अधिष्ठान शरीर जो लिंग शरीर का आश्रय (स्थान) है नही कहा उसका हेतु यह है कि लिंग शरीर व अधिष्ठान शरीर दोनों के सूक्ष्म होने व आधार आधेय भाव से वर्तमान होने से अधिष्ठान को लिंग शरीर के अंतर्गत मानकर एक ही माना है।।११।।

शंका–स्थूल शरीर से भिन्न लिंग शरीर का अधिष्ठानरूप तीसरे शरीर कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर–

न स्वातंत्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ।।१२।।

छाया के समान व चित्र के समान विना उसके स्वतंत्र (स्वाधीन) न होने से।।१२।।

लिंग शरीर उसके विना अर्थात् अधिष्ठान शरीर के विना स्वतंत्रता से (विना अन्य आश्रय के आप अपने सामर्थ्य से) नहीं रह सकता यथा छाया निराधार नहीं रहती तथा चित्र भी निराधार स्थिर नहीं होता अथवा नहीं रहता। इसी प्रकार से विना अधिष्ठान लिंग शरीर का न रहना अनुमान किया जाता है। स्थूल देह त्यागकर लोकान्तर के गमन के अर्थ लिंग देह का आधारभूत अन्य शरीर अनुमान से सिद्ध होता है।।१२।।

शंका–लिंग शरीर मूर्त्तिमान् होने पर भी वायु आदि के तुल्य आकाश ही आधार में रहे अन्य शरीर कल्पना करना मिथ्या है? उत्तर–

मूर्तत्वेपि न संगात् योगात् तरणिवत् ।।१३।।

मूर्त होने पर भी नहीं होता संग से योग से सूर्य के समान होता है।।१३।।

भूर्तिमान् होने पर भी स्वतंत्रता से विना संग स्थिर नहीं हो सक्ता सूर्य्य के तुल्य यथा प्रकाशरूप तेजवान् सूर्य आकाश संचारी है। परंतु विना पार्थिव द्रव्य के स्थिर नहीं है यह अनुमान से सिद्ध होता है क्योंकि पिण्डरूप मूर्तिमान् द्रव्य होना पार्थिव द्रव्य में होना विदित होता है। इससे सूर्य आदि तेजवान् सब पार्थिव द्रव्य के संग ही अवस्थित हैं इसी प्रकार से लिंग शरीर सत्वप्रकाशमय है। वह भूतों के संग में स्थिर होता है व गमन आगमन करता है।।१३।।

अणुपरिमाण तत्कृतिश्रुतेः ।।१४।।

कृति श्रुति से वह अणु परिमाण है।।१४।।

कृति श्रुति जो क्रिया वर्णन में श्रुति है उससे वह अर्थात् लिंग शरीर सूक्ष्म अणु परिमाण परिच्छिन्न है। श्रुति यह है "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि" इस श्रुति में बुद्धि की प्रधानता से विज्ञान संज्ञा लिंग की वर्णन किया है अर्थात् विज्ञान (लिंग) अनेक कर्म कर्ता है तथा लिंग शरीर के क्रिया में यह श्रुति है "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं स विज्ञानो भवति" अर्थ–उसके पुरुष के निकलते हुए अर्थात् शरीर से गमन करते हुए प्राण गमन करता है और प्राण निकलते वा जाते हुए लिंग शरीर संयुक्त होता है। अर्थात् लिंग सहित ही जाता है इससे लिंग शरीर का अणु व परिच्छिन्न होना सिद्ध होता है क्योंकि विभु (व्यापक) में क्रिया नहीं हो सकती।।१४।।

अब परिच्छिन्न होने में दूसरा हेतु वर्णन करते हैं–

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ।।१५।।

उसके अन्नमय होने की श्रुति से भी।।१५।।

उसके अर्थात् लिंग के अन्नमय होने की श्रुति होने से एकदेशीय सूक्ष्म होना सिद्ध होता है। अन्न आदि के कार्य रूप का विभु होना संभव नहीं होता श्रुति यह है "ह्यन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इत्यादि। अर्थ–हे सौम्य! अन्नमय मन है, जलमय प्राण, तेजमयी वाक् है इत्यादि। यद्यपि मन आदि भौतिक नहीं हैं तथापि अन्न आदि से उत्पन्न सजातीय अंश पूरण होने से अन्नमय होने आदि का व्यवहार होता है यह समझना चाहिये।।१५।।

पुरुषार्थसंसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ।।१६।।

लिंगों की संसृति पुरुष के अर्थ राजा के सूपकार (रसोई बनानेवाले) के सदृश है।।१६।।

जो यह शंका होवे कि अचेतन लिंगों की संसृति देह से देहान्तर में जाने की किस निमित्त है। इसके उत्तर के लिये यह कहा है कि, यथा राजा के लिये राजा के सूपकारों का पाकशाला (रसोई घर) में जाना

होता है। इसी प्रकार से लिंग शरीरों की संसृति पुरुष के अर्थ होती है यह सूत्र का भाव है।।१६।।

सूक्ष्म शरीर को कहा अब स्थूल शरीर का विचार करते हैं–

पांचभौतिको देहः ।।१७।।

पंचभूतरचित देह है।।१७।।

पंचभूत जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश हैं। इनसे बना हुआ देह है अर्थात् इन पांच भूतसंयुक्त परिणामरूप कार्य देह है।।१७।।

चातुर्भौतिकमित्येके ।।१८।।

कोई चातुर्भौतिक मानते हैं।।१८।।

कोई आकाश के आरंभक न होने से पृथिवी जल तेज वायु चार ही भूतों से देह की उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् चार ही भूत सम्बंधी देह की उत्पत्ति है यह मानते हैं।।१८।।

एक भौतिकमित्यपरे ।।१९।।

कोई एक ही भूत से उत्पन्न मानते हैं।।१९।।

कोई एक भूत मुख्य पृथिवी भूत से शरीर की उत्पत्ति मानते हैं अथवा मनुष्य आदि में पृथिवी तत्त्व के अधिक होने से पृथिवीमय सूर्य आदि में तेज अधिक होने से एकतत्त्व तेज को मानकर तेजमय कहते हैं। अर्थात् एक भूत जो अधिक है उसी को मुख्य व अन्य भूतों को उपष्टम्भक (स्थिति के सहायक) मात्र मानते हैं।।१९।।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ।।२०।।

पृथक् भूत में न देखे जाने अथवा ज्ञात न होने से स्वाभाविक चैतन्य नहीं है।।२०।।

पृथक् पृथक् पृथिवी आदि भूतों में चेतन होना न देखने से यह बोध होता है कि भौतिक अर्थात् पंचभूत से रचित देह का चेतन होना स्वाभाविक नहीं है किंतु औपाधिक मात्र है।।२०।।

प्रपंचमरणाद्यभावश्च ।।२१।।

और प्रपंच के मरण आदि का अभाव होता है।।२१।।

जो देह का चैतन्य स्वाभाविक होता तो प्रपंच के मरण आदि का अर्थात् मरने व सुषुप्ति अवस्था के प्राप्त होने का अभाव होता देह का चैतन्यरहित होना ही मरण व सुषुप्ति होना है। स्वाभाविक चेतनता होने में मरण सुषुप्ति का होना संभव नहीं होता क्योंकि स्वाभाविक गुण जब द्रव्य का नाश होता है तभी नष्ट होता है। द्रव्य के रहने में उसका नाश नहीं होता शरीर बने रहने में मरण आदि होने से देह का स्वाभाविक चेतन होना सिद्ध नहीं होता।।२१।।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ।।२२।।

मद शक्ति के सदृश होवे प्रत्येक परिदृष्ट होने पर
मिले हुए में उसकी उत्पत्ति संभव है।।२२।।

जो यह शंका होवे कि यथा मादक शक्ति भिन्न द्रव्यों में विदित नहीं होती मिलित द्रव्यों में प्रगट होती है। इसी प्रकार से शरीर में चैतन्य माना जावे इस पर यह कहा है कि प्रत्येक परिदृष्ट होने पर मिले हुए में उसकी उत्पत्ति होती है अथवा उसकी उत्पत्ति संभव है अर्थात् जो प्रत्येक में कारण भाव से प्राप्त है। यद्यपि सूक्ष्मता से उसका प्रत्यक्ष न होवे वही मिले हुए पदार्थों के कार्यरूप द्रव्य में प्रकट होता है। जो प्रत्येक में परिदृष्ट नहीं है वह मिले हुए में भी प्रकट नहीं हो सकता। मादक द्रव्य में मादकता शक्ति उत्पन्न होके दृष्टांत में प्रत्येक पदार्थ में जिससे मिलकर मादक वा मद्य द्रव्य बनता है। शास्त्र प्रमाण व अनुभव से सूक्ष्म मादकता शक्ति होना सिद्ध होता है व सिद्ध है। शरीर के प्रत्येक भूतों में सूक्ष्मता से भी चैतन्य होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इससे मिले हुए भूतों के कार्य शरीर में चैतन्य होना संभव नहीं है जो समुचित भूतों के कार्य होने से प्रत्येक भूतों में होने का अनुमान किया जाय तो उत्पन्न हुवा चेतन अनित्य होगा श्रुति व अनुमान प्रमाण से चेतन एक रस नित्य होना सिद्ध होता है। विना नित्य होने के कर्म फल भोग व विना कर्म के दु:ख सुख भोग फल होना असंभव है। इससे अनेक भूतों में अनेक चैतन्य शक्ति कल्पना करने से एक ही प्रमाण सिद्ध नित्य चित्त स्वरूप मानना उचित है।।२२।।

शरीर का वर्णन करके पुरुषार्थ प्राप्त होने के विषय में वर्णन करते हैं–

ज्ञानान्मुक्तिः ॥२३॥

ज्ञान से मुक्ति है॥२३॥

ज्ञान से मुक्ति होती है अर्थात् जन्म मरण क्लेश के त्याग हेतु विवेक से आत्मतत्व विचारने में अज्ञान की हानि व तत्त्वज्ञान के लाभ से मुक्ति होती है॥२३॥

बंधो विपर्ययात् ॥२४॥

विपर्यय से बंध॥२४॥

विपर्यय से अर्थात् ज्ञान के विपरीत अज्ञान वा अविवेक से सुख दु:खात्मक रूप बंध होता है। ज्ञान व विपर्यय से मुक्ति व बंध कहकर ज्ञान से मुक्ति होने का विचार करते हैं॥२४॥

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥२५॥

नियत कारण होने से समुच्चय विकल्प नहीं है॥२५॥

यद्यपि विद्या व अविद्या सहित दोनों कर्म वेद में सुने जाते हैं। तथापि अविवेक की निवृत्ति व तत्त्वज्ञान का होना नियत कारण मोक्ष का सिद्ध होने से अविद्याकर्म सहित जो ज्ञान है। उसका मोक्ष के प्राप्त करने में समुच्चय विकल्प दोनों नहीं हैं। अर्थात् अविद्या के कर्म सहित जो ज्ञान है न वह अवश्य करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है न यही कहा जा सकता है कि, कभी प्राप्त करता है कभी नहीं प्राप्त करता अर्थात् अविद्या कर्म के सहित जो ज्ञान है। उससे किसी प्रकार से मोक्ष होना संभव नहीं है केवल अविवेक रहित मोक्ष का नियत कारण है॥२५॥

समुच्चय विकल्प का दृष्टांत कहते हैं–

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥२६॥

जैसे स्वप्न व जाग्रत से ऐसे ही मायिक व अमायिकों से दोनों में पुरुष की मुक्ति नहीं है॥२६॥

जो माया का कार्य वा माया सम्बंधी हो वह मायिक कहा जाता है। यहां अभिप्राय असत्य होने से है अमायिक वह है जो स्थिर होवे व सत्य हो मायिक कम की संज्ञा, अमायिक ज्ञान की संज्ञा है यथा—स्वप्न के असत्य कार्य व जाग्रत के सत्यकार्य वा पदार्थों से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती क्योंकि यद्यपि स्वप्न की अपेक्षा जाग्रत सत्य ही है। परंतु कूटस्थ नित्य पुरुष की अपेक्षा असत्य है असत् पदार्थ से सत् पुरुषार्थ फल नहीं होता। इसी प्रकार से मायिक जो असत् माया का कार्य है व अमायिक जो कर्म सम्बंधी ज्ञान है इन दोनों में पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं है क्योंकि अविद्या कर्म सहित जो ज्ञान है। वह यथार्थ ज्ञान नहीं है जाग्रत अवस्था की ऐसी सत्यता है कि, स्वप्न की अपेक्षा सत्य है। परंतु यथार्थमय नाशवान् होने से नित्य पुरुष की अपेक्षा असत्य है। माया कर्म रहित निष्कर्म तत्त्वज्ञान मोक्ष साधक है माया कार्य अनित्य है। अनित्य कर्म संयुक्त होने से मोक्ष साधक नहीं हो सकता यह अभिप्राय है।।२६।।

शंका—उपास्य के अमायिक होने से आत्मोपासना ज्ञान सहित तत्त्वज्ञान का मोक्ष में समुच्चय वा विकल्प होवे? उत्तर—

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ।।२७।।

इतर को भी आत्यन्तिक नहीं है।।२७।।

जो यह कहा जावे कि, विकल्प करके अन्य देव अथवा उत्कृष्ट पुरुष की उपासना से पुरुषार्थ सिद्ध होगा इसके उत्तर में यह कहा है कि इतर को भी आत्यन्तिक नहीं है। अर्थात् इतर जो आत्मा से भिन्न उपास्य (उपासना योग्य) है उसका भी आत्यन्तिक माया रहित होना सिद्ध नहीं होता जो उपास्य ही मायारहित नहीं है तो उसके उपासक का मायारहित होना असंभव है।।२७।।

संकल्पितेऽप्येवम् ।।२८।।

संकल्पित में भी इसी प्रकार से।।२८।।

संकल्पित उपास्य जो देवता आदि हैं वे भी मायिक हैं मायारहित नहीं हैं क्योंकि जो शरीवान् देवता अथवा महात्माओं के शरीर हैं। वे सर्व माया कार्य हैं क्योंकि जो इन्द्रियगोचर रूप शरीर आदि हैं सब

अनित्य व मायिक व्यापार हैं॥२८॥

शंका–यह उपासना वेद में कहा है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थ–यह सब निश्चय करके ब्रह्म है इत्यादि उपासना अथवा सिद्ध शिव विष्णु आदि की उपासना करने से क्या फल है? उत्तर–

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतवत् ॥२९॥

भावना सिद्धि होने से श्रद्धावान् को सब प्रकृत के तुल्य है॥२९॥

भावना रूप जो उपासना है वह श्रद्धावान् उपासना करनेवाले को सिद्ध होने से उपासना करनेवाले शुद्ध पाप रहित पुरुष को प्रकृत के तुल्य ऐश्वर्य व सामर्थ्य, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, संहार करने की शक्ति प्राप्ति होती है। परंतु मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है उपासना आदि कर्म से नहीं होती यह भाव है॥२९॥

अब ज्ञान जो मोक्ष का हेतु है उसका साधन वर्णन किया जाता है।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

रागों के नाश का हेतु ध्यान है॥३०॥

ज्ञान का प्रतिबंधक (रोकनेवाला) जो विषयों का राग अर्थात् विषयों की चाह अथवा प्रीति है। उसके नाश होने का हेतु ध्यान है अर्थात् ध्यान साधना से सम्पूर्ण विषयों के राग का नाश हो जाता है, यहां ध्यान शब्द से धारणा, ध्यान, समाधि, इन तीनों को ग्रहण करना चाहिये॥३०॥

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

वृत्ति के निरोध से उसकी सिद्धि होती है॥३१॥

ध्येय से भिन्न सम्पूर्ण पदार्थों से वृत्तियों के रोकने से उसकी अर्थात् ध्यान की सिद्धि होती है व ध्यान की सिद्धि होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है ध्यान आरंभ करने मात्र से ज्ञान नहीं होता॥३१॥

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

धारणा आसन व अपने कर्म से उसकी सिद्धि होती है॥३२॥

धारणा आसन व अपने आश्रम कर्म से उसकी अर्थात् ध्यान की सिद्धि होती है॥३२॥

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥३३॥

छर्दि व विधारण से निरोध होता है॥३३॥

छर्दि वमन को कहते हैं यहां अभिप्राय श्वास के बाहर निकालने से है व विधारण शब्द का अर्थ विशेष धारण करना है यहां विधारण से दो अर्थ ग्राह्य हैं। एक बाहर के वायु को भीतर धारण करना दूसरे वायु को रोकना स्तंभन करना। अर्थात् छर्दि से रेचक व विधारण से पूरक व कुंभक के अर्थ ग्रहण करना चाहिये रेचक पूरक कुंभक द्वारा वायु का निरोध होता है। अर्थात् वायु वश होता है वायु वश होने से चित्त स्थिर हो ध्यान में एकाग्र होता है। इससे प्राणायाम से वायु को वश करना चाहिये यह अभिप्राय है॥३३॥

स्थिरसुखमासनम् ॥३४॥

जो स्थिर व सुखसाधन हो वह आसन है॥३४॥

जो स्थिर व सुख का साधन है वह आसन है। अर्थात् किसी आसन से बैठना जिसमें स्थिर रहना व सुख से रहना साधन से हो सके वह आसन है व विशेष आसन के भेद व नाम भी अन्य ग्रंथकारों ने लिखा है, यथा सिद्धासन, पद्मासन, व स्वस्तिक इत्यादि॥३४॥

स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥३५॥

अपने आश्रमविहित कर्म का अनुष्ठान करना स्वकर्म है॥३५॥

ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, इन चार आश्रमों में जिस आश्रम में हो उस अपने आश्रम का जो विहित कर्म है वह स्वकर्म है उसको करना चाहिये॥३५॥

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥३६॥

वैराग्य से व अभ्यास से॥३६॥

विना यम, नियम, प्राणायाम के उत्तम अधिकारियों को वैराग्य से व ध्यान के अभ्यास से योग सिद्ध होता है। क्योंकि वृत्तियों का रोकना चित्त का एकाग्र होना विषय राग का छूटना योग में मुख्य है। यह वैराग्य व अभ्यास से हो जाता है अन्य जे उत्तम अधिकारी नहीं हैं।

उनको यम नियम आदि करने से कठिनता से योग की सिद्धि होती है।।३६।।

विपर्ययभेदाः पंच ।।३७।।

विपर्यय के भेद पांच हैं।।३७।।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, ये पांच विपर्यय के भेद हैं व यही बंध के हेतु हैं। अनित्य अशुचि दुःख अनात्मा में यथा नित्य शुचि सुख आत्मा का बोध करना अविद्या है, आत्मा व अनात्मा का एक होना जानना अस्मिता है, यथा—मैं शरीर हूं, यह बोध होना, राग द्वेष प्रसिद्ध है अभिनिवेश मरण आदि त्रास को कहते हैं ये पांच विपर्यय हैं।। ३७।।

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ।।३८।।

अशक्ति अट्ठाईस प्रकार की है।।३८।।

विपर्यय कारण से अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति है ग्यारह इंद्रियों का नाश होना व नव तुष्टि व आठ सिद्धि का बध होना ये अट्ठाईस अशक्ति हैं। इंद्रियों का बध होना बधिर होना कुष्ठ होना अंध होना नपुंसक होना मूक होना आदि ग्यारह इंद्रियों की अपनी अपनी बाधा है व नव तुष्टि व आठ सिद्धियों के भेद आगे वर्णन किया है इस प्रकार से अट्ठाईस अशक्ति हैं।।३८।।

तुष्टिर्नवधा ।।३९।।

तुष्टि नव प्रकार की है।।३९।।

नव प्रकार के भेद को आगे सूत्रकार आप ही वर्णन करेंगे।।३९।।

सिद्धिरष्टधा ।।४०।।

सिद्धि आठ प्रकार की है।।४०।।

सिद्धियों के भेद आगे वर्णन किये हैं।।४०।।

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ।।४१।।

अवान्तर भेद पूर्व के समान हैं।।४१।।

अवान्तर भेद विपर्यय के पूर्व के तुल्य हैं अर्थात् जो पांच भेद अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश, पूर्व ही कहे हैं वे विपर्यय के भेद हैं। यहां

संक्षेप से इतना ही कहा है विस्तार से कहने में विपर्यय के बासठ भेद हैं वे ये हैं। अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, व पांच तन्मात्रा इन आठ अनात्माओं में आत्मबुद्धि होना जो अविद्या है ये आठ तम के भेद हैं। अर्थात् तम आठ प्रकार का होता है इन ही आठ का अस्मिता वृत्ति से ग्रहण होने से अष्ट प्रकार का मोह होता है शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इन पांचक दिव्य अदिव्य भेद से ग्रहण करने में राग दश प्रकार का है। इसी को महामोह शब्द से वाच्य करके दश प्रकार का महामोह होना कहते हैं। अविद्या व अस्मिता के आठ विषय व राग के दश विषय अठारा विषय में अठारा विध का तामिस्र होता है अर्थात् द्वेष होता है और उन अठारा के विनाश आदि से अठारा विध का अंधतामिस्र होता है अर्थात् अभिनिवेश होता है ये बासठ भेद हैं।।४१।।

एवमितरस्याः ।।४२।।

इसी प्रकार से इतर के।।४२।।

इसी प्रकार से इतर के अर्थात् अशक्ति के अवान्तर भेद अट्ठाईस गिनने चाहिये।।४२।।

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ।।४३।।

आध्यात्मिक आदि भेद से नव प्रकार की तुष्टि है।।४३।।

आध्यात्मिका आदि नव तुष्टियों के भेद इस प्रकार से हैं कि प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य इन चार तुष्टियों की आध्यात्मिका संज्ञा है ये चार तुष्टियां व बाह्य विषय शब्द आदि में अर्जन (लाभ करना) रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा आदि दोष निमित्तकों के उपरम (निवृत्ति होने) से तुष्टि होती है इन पांच सहित नव तुष्टियां हैं। प्रकृति नामक जो तुष्टि है वह यह है कि, आत्मा के साक्षात्कार होने पर्यंत जो परिणाम है उसमें यह मानना कि, 'सब प्रकृति ही करती है मैं कूटस्थ पूर्ण हूं' ऐसी आत्मा की भावना करने से जो परितोष होता है उसको प्रकृति तुष्टि कहते हैं। व अम्भ भी कहते हैं और उससे संन्यास ग्रहण करने से जो तुष्टि होती है उसको उपादान तुष्टि व सलिल भी कहते हैं। बहुत काल के समाधि व अनुष्ठान से जो तुष्टि होती है उसको काल तुष्टि व तुष्टिरोध कहते हैं। प्रज्ञान परम

काष्ठारूप धर्म मेधा समाधि में जो तुष्टि होती है उसको भाग्य व वृष्टि कहते हैं। ये चार आध्यात्मिक तुष्टियां कही जाती हैं और पांच जो पांच बाह्य विषय के अर्जन आदि दोष निमित्तक की निवृत्ति से जैसा पूर्व ही कहा गया है तुष्टियां होती हैं। ये नव तुष्टी वा तुष्टियां हैं इनमें बोध होना नवतुष्टियों की अशक्ति कही जाती है।।४३।।

ऊहादिभिः सिद्धिः ।।४४।।

ऊहा आदिकों से सिद्धि होती है।।४४।।

ऊहा १ शब्द २ अध्ययन ३ आध्यात्मिक दुःखनाश ४ आधिभौतिक दुःखनाश ५ आधिदैविक दुःखनाश ६ सुहृत्प्राप्ति ७ दान ८ इन ऊहा आदि से आठ सिद्धियां होती हैं यथा–विना उपदेश पूर्व संस्कार के अभ्यास से आपसे तत्त्व विषय में संभावना होना ऊहासिद्धि है, अन्य का पाठ सुनकर अपने में शास्त्र ज्ञान हो जाना शब्दसिद्धि है, शिष्य आचार्य भाव करके शास्त्र अध्ययन से तत्त्वज्ञान होना अध्ययन सिद्धि है, अनायास अपने घर में परम दयालु अपने उपदेश को प्राप्त हो जाने से उपदेश लाभ होना सुहृत्प्राप्ति सिद्धि है, धन आदि दान से प्रसन्न करके उपदेश लाभ करना दानसिद्धि है, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक का पूर्व ही वर्णन किया गया है। आध्यात्मिक आदि दुःखों का नाश होना आध्यात्मिक आदि सिद्धियां हैं, इनमें बाधा वा विघ्न होना अष्टसिद्धि अशक्ति कही जाती हैं।।४४।।

शंका–ऊहा आदि ही से अष्ट सिद्धियां क्यों कही गईं हैं योग तपबल से अणिमा आदि अष्टसिद्धियां होने का प्रमाण है? उत्तर–

नेतरादितरहानेन विना ।।४५।।

विना इतर के हान इतर से भिन्न नहीं है।।४५।।

इतर से अर्थात् ऊहन आदि पांच से भिन्न तप आदि से तात्त्विकी सिद्धियां नहीं हैं क्यों नहीं हैं विना इतर के हान होने से अर्थात् इतर जो विपर्यय (असत् ज्ञान) है विना उसके हान (नाश) के वे सिद्धियां होती हैं। इससे वे केवल संसारी मूढ़ जनों को सिद्धियां भासित होती हैं परंतु यथार्थ तात्त्विकी सिद्धियां नहीं हैं।।४५।।

दैवादिप्रभेदा: ॥४६॥

दैव आदि हैं भेद जिसके ऐसी सृष्टि है॥४६॥

दैव आदि भेद संयुक्त यह सृष्टि है अर्थात् ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच की सृष्टि दैवसृष्टि है, पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर, यह तैर्यग्योनि सृष्टि है व मानुष्य एक ही प्रकार की सृष्टि है ये दैव आदि सृष्टि के भेद हैं॥४६॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृता सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥

ब्रह्मा से स्थावर पर्यंत उससे की गई सृष्टि विवेकपर्यंत पुरुषार्थरूप होती है॥४७॥

ब्रह्मा से आरंभ करके स्थावर पर्यंत उससे अर्थात् प्रकृति से की गई व्यष्टि सृष्टि भी समष्टिरूप विराट् सृष्टि के तुल्य पुरुषों को विवेक पर्यंत पुरुषार्थ के अर्थ होती है। अर्थात् पुरुषार्थ के लिये उपयोगी होती है॥४७॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥४८॥

ऊर्द्ध्व में सत्त्वगुण अधिक युक्त सृष्टि है॥४८॥

ऊर्ध्व में भूर्लोक के ऊपर सत्त्वगुण अधिक युक्त सृष्टि है। अर्थात् भूर्लोक के ऊपर जो सृष्टि है उसमें सत्त्वगुण अधिक है॥४८॥

तमोविशाला मूलत: ॥४९॥

नीचे तमोगुण अधिक युक्त सृष्टि है॥४९॥

भूर्लोक से नीचे जो सृष्टि है उसमें तमोगुण अधिक है॥४९॥

मध्ये रजोविशाला ॥५०॥

मध्य में रजोगुण अधिक युक्त सृष्टि है॥५०॥

मध्य में भूर्लोक में जो सृष्टि है उसमें रजोगुण अधिक है॥५०॥ शंका—प्रकृति एक है एक के चित्र विचित्र सृष्टि करने का हेतु क्या है? उत्तर—

कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥५१॥

कर्म की विचित्रता से प्रधान की चेष्टा गर्भदास के समान है॥५१॥

विचित्र कर्म निमित्त ही से प्रधान अर्थात् प्रकृति विचित्र कार्य करने की चेष्टा करती है जैसे जो आदि गर्भ अवस्था से दास है। वह अपनी सेवा करने की प्रवीणता से स्वामी के अर्थ नाना प्रकार की चेष्टा सेवा में करता है।।५१।।

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ।।५२।।

उसमें भी आवृत्ति है एक एक से उत्तर योनि के योग होने से त्याग के योग्य है।।५२।।

उसमें अर्थात् पूर्वोक्त ऊर्ध्व लोक में अर्थात् स्वर्ग, महः, जनः, व तपलोक में प्राप्त होने में भी आवृत्ति है। वहाँ से फिर पतित होता है एक एक से उत्तर अंर्थात् फिर एक एक के पश्चात् योनि के योग होने से नीचे से नीचे में जन्म होने से ऊर्ध्वलोक भी त्याग के योग्य हैं।।५२।।

समान जरामरणादिजं दुःखम् ।।५३।।

जरा मरण आदि से उत्पन्न दुःख समान है।।५३।।

ऊर्ध्व व अधोगतवालों को ब्रह्मा से स्थावर तक को जरामरण से उत्पन्न दुःख सब को है इससे सब त्याग के योग्य हैं।।५३।।

न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।।५४।।

कारण में लय होने से कृतार्थता (कृतार्थ होना) नहीं है मग्न (डूबे हुए) के समान फिर उठने से।।५४।।

विना विवेक जब प्रकृति के उपासना मे महत्तत्वादि में वैराग्य होता है तब उपासक प्रकृति में लय होता है। वैराग्य से प्रकृति में लय होने पर भी कृतार्थता नहीं होती जैसे जल में डूबा हुआ फिर उठता है। इसी प्रकार से प्रकृति में लीन पुरुष ईश्वर भाव से अर्थात् ब्रह्मा विष्णु आदिरूप से फिर उत्पन्न होते हैं विना विवेक कोई कर्म व उपासना दोष नाश करने में ममर्थ नहीं है।।५४।। अब यह शंका है कि, कारणरूप प्रकृति किसी का कार्य नहीं है कि अन्य कारण के अधीन हो स्वतंत्र होकर अपने उपासकों का फिर दुःख निदानरूप उत्थान को क्यों करती है? उत्तर–

अकार्यत्वेपि तद्योगः पारवश्यात् ।।५५।।

कार्य न होने में भी उसका योग है परवश होने से।।५५।।

यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है तथापि कार्य न होने में भी उसका अर्था प्रकृति में लीन के फिर उत्थान होने अर्थात् उत्पन्न होने का योग है क्य योग है। परवश होने से अर्थात् पुरुषों के कर्म संस्कार परपुरुष के अधी होने से, भाव इसका यह है कि विना पुरुषों के कर्म संस्कार चेतन प पुरुष (परमात्मा) के संयोग जड़ प्रकृति सृष्टि करने में समर्थ नहीं है पुरुषों के कर्मसंस्कार रूप अदृष्ट संयुक्त होने पर भी जड़ प्रकृति वि चेतन पुरुष के संयोग सृष्टि नहीं कर सकती इससे स्वतंत्र नहीं है। यद्य पुरुष के इच्छा के अधीन न होने व पुरुष के अकर्ता प्रतिपादन किये जा से स्वतंत्र कही गई है। तथापि चेतन की सन्निधि विना समर्थ न होने स्वतंत्र (सर्वथा स्वतंत्र) नहीं है। परपुरुष की सन्निधि मात्र से वि इच्छा सम्बंध स्वाभाविक धर्म से जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) से लो प्रेरित होकर क्रिया में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार से पुरुष से प्रेरि प्रकृति सृष्टि उत्पत्ति में प्रवृत्त होती है। इससे कार्य न होने पर भी पुरु के अधीन है, जो यह संशय हो कि, यहाँ अयस्कांत (चुम्बक) के तु प्रवृत्ति का निमित्त मात्र मानने का क्या हेतु है सूत्र में परवश होना मा कहा है। इससे परमात्मा ईश्वर की इच्छा के अधीन प्रकृति है यही अ ग्रहण करना योग्य है। इसका उत्तर यह है कि पूर्व ही अपनी इच्छा सृष्टि उत्पन्न करनेवाला ईश्वर की सिद्ध होने का निषेध किया है। ऐस अर्थ ग्रहण करने में पूर्वा पर विरोध होगा इससे अयस्कान्त ही के तु पुरुष के प्रेरक होने व लोहे के तुल्य प्रकृति का प्रवृत्त होने में अधी मानना कहने का अभिप्राय समझना उचित है। परपुरुष की सन्निधि पुरुषों के कर्म प्रकृति के प्रवृत्त होने में प्रेरक होने से प्रकृति में ली पुरुषों के संस्कार क्षय न होने से प्रकृति उनको फिर उत्पन्न करती है अब वह परपुरुष जिसकी सन्निधि मात्र से प्रेरित होने से प्रकृति सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होती है कैसा है यह वर्णन करते हैं।।५५।।

सहि सर्ववित् सर्वकर्ता ।।५६।।

वह निश्चय से सर्वज्ञ व सबका कर्ता है।।५६।।

वह परपुरुष निश्चय से सर्वज्ञान शक्तिमान् सर्वकर्तृत्व शक्तिमा

अर्थात् सब करने में समर्थ है। अर्थात् सर्वज्ञ तो अपने स्वरूप ही से है व अयस्कान्त के तुल्य सन्निधि मात्र से प्रेरक होने से व उसकी प्रेरणा व ज्ञान शक्ति को प्राप्त हो प्रकृति सम्पूर्ण सृष्टि का कारण होने से मुख्य आदि सृष्टि का निमित्त कारण पुरुष ही सिद्ध होने से पुरुष सबका कर्ता है यह भाव है।।५६।।

इस पर यह शंका होती है कि, पूर्व ही यह कहा है कि ईश्वर का सृष्टि करना सिद्ध नहीं होता और यहां सर्वज्ञ सर्वकर्ता कहने से ईश्वर के प्रतिषेध में विरोध होगा इसके उत्तर में यह कहा है कि–

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।।५७।।

ऐसे ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।।५७।।

इस प्रकार की अर्थात् सन्निधि मात्र से प्रकृति का प्रेरक व सृष्टि का निमित्त कारण होनेवाले ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है। ऐसे ईश्वर मानने का प्रतिषेध नहीं किया गया अपनी इच्छा से सृष्टि उत्पन्न करनेवाला अथवा उपादान कारण होकर सृष्टि उत्पन्न करनेवाला ईश्वर के प्रमाण से सिद्ध होने का प्रतिषेध किया गया है। यह अभिप्राय सूत्र का ग्रहण करना यथार्थ है। बहुतेरे पूर्वसूत्र व इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार से कहते हैं कि–जो पूर्व सृष्टि में उपासना व कर्म विशेष से कारण (प्रकृति) में लीन हुए हैं। वे सर्गान्तर में अर्थात् अन्य सृष्टि में सर्वज्ञ सर्वकर्ता ईश्वर ब्रह्मा विष्णु आदि पुरुष होते हैं। इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है। परंतु ऐसा अर्थ ग्रहण करना यथार्थ नहीं है क्योंकि, जिनका जन्म व नाश है वे अपनी उत्पत्ति के आप अपने जन्म से प्रथम कारण नहीं हो सकते और जब आप ही जन्म व नाश से रहित नहीं हैं तो स्वतंत्र भी नहीं हैं। यह भी सिद्ध होता है स्वतंत्र न होने व सदा न होने से सर्वज्ञ व सर्वकर्ता व सर्व शक्तिमान् होना भी संभव नहीं है। यद्यपि सिद्धरूप ईश्वरों में सृष्टि की सामर्थ्य हो परंतु अपनी उत्पत्ति से पूर्व आदि सृष्टि में सृष्टि के हेतु नहीं हो सकते इससे सिद्धरूप ईश्वरों के मानने से परमेश्वर का प्रतिषेध नहीं हो सकता। न सूत्रकार का ऐसा भाव होना सिद्ध होता है। ईश्वर के सर्वथा प्रतिषेध में जो अर्थ इस शास्त्र के विशेष सूत्रों का कहते वा समझते हैं वह केवल भ्रम मात्र समझना चाहिये।।५७।।

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वा-
दुष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥५८॥

आपसे करने पर भी अर्थात् प्रधान का आपसे सृष्टि करने पर भी भोक्ता होने का सामर्थ्य न होने से ऊँट का कुंकुम (केसर) ले चलने के समान प्रधान की सृष्टि पर के (पुरुष के) लिये है॥५८॥

जैसे ऊँट केसर ले चलता है परंतु उसका ले चलना अज्ञान होने से अपने भोग के अर्थ नहीं होता केवल स्वामी के अर्थ होता है। इसी प्रकार से प्रधान का सृष्टि करना पर के अर्थ अर्थात् पुरुष के लिये है॥५८॥

शंका–अचेतन प्रधान का आपसे सृष्टि करना संभव नहीं है? उत्तर–

अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥

अचेतन होने में भी क्षीर के समान प्रधान का चेष्टित कार्य होता है॥५९॥

जैसे क्षीर विना चेतन पुरुष के प्रयत्न आपसे दधिरूप हो जाता है इसी प्रकार से अचेतन प्रधान का भी आपसे विना दूसरे के प्रयत्न महत्तत्त्व आदि के रूप में परिणाम होता है॥५९॥

कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥

अथवा काल आदि के कर्म के समान देखने (जानने) से॥६०॥

अथवा काल आदि के कर्म के तुल्य प्रधान का आपसे चेष्टा करना सिद्ध होता है। अर्थात् यह देखने से कि एक काल जाता है। दूसरा आपसे विना उनके प्रयत्न आता है। इसी प्रकार से आपसे अर्थात् स्वभाव से विना चेतन के प्रयत्न प्रकृत के कर्म करने का अनुमान होता है॥६०॥

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद्भृत्यवत् ॥६१॥

विना अभिसंधान सेवक के समान स्वभाव से चेष्टित है॥६१॥

जैसे अच्छा सेवक स्वभाव (संस्कार ही) से आवश्यक जो प्रतिदिन की नियत अपने स्वामी की सेवा है। उसमें प्रवृत्त होता है अपने भोग के मनोरथ वा प्रयोजन से प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार से संस्कार

स्वभाव ही से पुरुष के लिये प्रकृति का चेष्टित कर्म है।।६१।।

कर्माकृष्टेर्वानादितः ।।६२।।

अथवा कर्म के आकर्षण के अनादि से।।६२।।

कर्म के अनादि होने से अनादि कर्म संस्कार के आकर्षण से भी प्रधान की आवश्यकी व्यवस्थित प्रवृत्ति है।।६२।।

विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके ।।६३।।

विविक्त पुरुष के ज्ञान होने से पाक में रसोई बनानेवाले के सदृश प्रधान के सृष्टि की निवृत्ति होती है।।६३।।

पुरुष के पृथक् होने के ज्ञान होने से पर वैराग्य से पुरुष के अर्थ समाप्त होने पर प्रधान के सृष्टि व्यापार की निवृत्ति होती है। जैसे पाक सिद्ध हो जाने पर पाक बनानेवाले का व्यापार निवृत्त हो जाता है। इसी को अत्यंत प्रलय कहते हैं।।६३।।

शंका–एक ही पुरुष की उपाधि में विवेक ज्ञान उत्पन्न होने से प्रकृति की सृष्टि निवृत्ति होने पर सबकी मुक्ति होना चाहिये? उत्तर–

इतर इतरवत् तद्दोषात् ।।६४।।

इतर इतर के तुल्य उसके दोष से।।६४।।

इतर जो विविक्त ज्ञान रहित है वह अज्ञान अज्ञान के तुल्य बद्ध रहता है। क्यों बद्ध रहता है। उसके प्रकृति के दोष से अर्थात् अज्ञान के प्रकृति के दोष निवृत्त न होने से अज्ञान बद्ध रहता है।।६४।।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।।६५।।

दोनों वा एक का उदासीन होना मोक्ष है।।६५।।

दोनों प्रकृति व पुरुष का उदासीन होना अर्थात् परस्पर वियोग होना अथवा एक पुरुष ही का उदासीन होना कि, 'मैं मुक्त होऊं' यही पुरुषार्थता है। यह विचारकर प्रकृति संयोग से निवृत्त होना मोक्ष है।।६५।।

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते
प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः ।।६६।।

अन्य के सृष्टि उपराग में विरक्त नहीं होती यथा केवल रस्सी के ज्ञान प्राप्त हुए को सर्प॥६६॥

तत्त्वज्ञान जिसको प्राप्त हुआ उससे विरक्त होने अथवा पृथक् हो जाने पर भी प्रकृति अन्य मूढ़ (अज्ञानी) पुरुष में सृष्टि उपराग के लि विरक्त नहीं होती अर्थात् मूढ़ के अर्थ सृष्टि उत्पन्न करती है जैसे केव उसी पुरुष को जिसको 'सर्प नहीं रस्सी है' यह बोध हो गया है। स बोध वा भ्रम रस्सी में भ्रम से सर्प आकार भय को उत्पन्न नहीं करत मूढ़ जिसको बोध नहीं हुआ उसको उत्पन्न करता है॥६६॥

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥६७॥

कर्मनिमित्त योग से भी ॥६७॥

सृष्टि होने में निमित्त जो कर्म है उसके संबंध से भी बद्ध मूढ़ पुरुष अर्थ सृष्टि करती है॥६७॥

अब यह शंका है कि, विना सब पुरुषों की प्रार्थना विना अपेक्ष विशेष किसी में प्रधान की प्रवृत्ति किसी में निवृत्ति होती है। इस नियामक क्या है किस पुरुष का कौन कर्म है इसमें कोई नियामक होने से कर्म का कोई नियामक नहीं है वा ज्ञात नहीं होता? इस उत्तर में यह कहा है–

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥६८॥

अपेक्षा न होने में भी प्रकृति के उपकार में अविवेक निमित्त है॥६८॥

पुरुषों को अपेक्षा न होने पर भी पुरुष व प्रकृति में भेद होने क विवेक न होने से यह मेरा स्वामी है यही मैं हूं, इस अविवेक ही प्रकृति सृष्टि आदि से पुरुषों का उपकार करती है। जिस पुरुष में अपने में भेद ज्ञान होने का विवेक प्रकृति नहीं देखती व उसमें अविवे होने से वासना होती है उसी में प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। इससे प्रकृ की प्रवृत्ति में अविवेक निमित्त है यही नियामक है॥६८॥

प्रश्न–प्रकृति के प्रवृत्तिस्वभाव होने से विवेक होने पर भी निवृ होना संभव नहीं होता प्रकृति की निवृत्ति कैसे होती है? उत्तर–

नर्तकीवत्प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

र्तकी (नाचनेवाली) के तुल्य चरितार्थ (किये गये की सिद्धि) होने से प्रवृत्त की भी निवृत्ति होती है॥६९॥

प्रधान का सामान्य से प्रवृत्ति स्वभाव नहीं है जिसका निवृत्त होना ंभव न हो प्रधान का प्रवृत्त होना केवल पुरुष के निमित्त है। इससे ुरुषार्थ समाप्तिरूप चरितार्थ होने में प्रवृत्त प्रधान की निवृत्ति युक्त है। ्था नर्तकी जो नृत्य दर्शन के अर्थ प्रवृत्त होती है नृत्य का मनोरथ सिद्ध होने पर निवृत्त होती है॥६९॥

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

दोष बोध होने ही में कुलवधू के समान प्रधान का उपसर्पण (पास जाना) नहीं होता॥७०॥

परिणामी होना दुःखात्मक होना आदि प्रकृति के धर्म पुरुष से देखे ाने से अर्थात् समझे जाने से लज्जा को प्राप्त प्रकृति का फिर पुरुष के ास जाना नहीं होता जैसे कुलवधू यह जानकर कि, 'मेरा स्वामी मेरा ोष जान लिया' लज्जित कुलवधू स्वामी के पास नहीं जाती अर्थात् ्रकृति का दुःखात्मक होने का बोध होने से फिर पुरुष बंध को नहीं ्राप्त होता॥७०॥

नैकान्ततो बंधमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

विना अविवेक पुरुष को एकांत (एकरस) से बंध व मोक्ष नहीं है॥७१॥

दुःख के योग व वियोग रूप जो बंध व मोक्ष हैं वे पुरुष को तत्त्व से सदा नहीं हैं। केवल अविवेक से हैं विना अविवेक पुरुष को बंध नहीं है॥७१॥

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससंगत्वात्पशुवत् ॥७२॥

प्रकृति ही के साथ संग होने से तत्त्व से दुःख से पशु के सदृश बंध होता है॥७२॥

प्रकृति ही के साथ संग होने से अर्थात् दुःख साधन धर्मों के साथ लिप्त होने से तत्त्व से दुःख से बंध होता है। अन्यथा नहीं, तथा संग

रहित होने से मोक्ष होता है यथा रस्सी के संग वा सम्वंध होने से प का बंध व संग रहित होने से मोक्ष होता है।।७२।।

रूपैस्सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोश-
कारवद्विमोचयत्येकरूपेण ।।७३।।

आत्मा को कुसियारी के कीड़े के समान सातरूप से प्रकृति
बांधती है व एकरूप से छोड़ाती है।।७३।।

धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इन सात रू दुःख हेतुओं से प्रकृति आत्मा को बांधती है। जैसे कुसियारी का कीड़ अपने बनाये हुए वासस्थान से अपने आत्मा को बांधती है। वही प्रकृति एकरूप से अर्थात् केवल एक ज्ञान से दुःख से आत्मा को छोड़ाती है।।७३।।

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ।।७४।।

अविवेक के निमित्त होने से दृष्ट की हानि नहीं है।।७४।।

बंध व मुक्ति होना जो अविवेक कहा है उसमें यह शंका निवारण के अर्थ कि बंध व मुक्ति अविवेक से कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि अविवेक न त्याग के योग्य है न ग्रहण के योग्य है। लोक में यह दृष्ट (देखा गया वा विदित) है कि, दुःख व उसका अभाव जो सुख है। उसी से आप ही त्याग व ग्रहण के योग्य होना विदित होता है अन्यथा दृष्ट की हानि है। अर्थात् प्रत्यक्ष से सिद्ध हुए की हानि है, सूत्र में यह कहा है कि पुरुष में अविवेक बंध मोक्ष का निमित्त होना मात्र कहा गया है। अविवेक ही बंध व मोक्ष नहीं है इससे अविवेक के निमित्त मात्र होने में दृष्ट की हानि नहीं है।।७४।।

अब विवेक सिद्ध होने के उपाय में अभ्यास का वर्णन किया जाता है।

तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीतित्यागाद्विवेकसिद्धिः ।।७५।।

यह नहीं है यह नहीं है इस त्यागरूप तत्त्वअभ्यास
से विवेक की सिद्धि है।।७५।।

प्रकृति पर्यंत जड़ पदार्थों में यह नहीं है यह नहीं है। (यह आत्मा नहीं है) इस अभिमान त्यागरूप तत्त्व के अभ्यास से आत्मा के विवेक की सिद्धि होती है। अर्थात् यह विचार करने से कि, यह मैं नहीं हूँ यह

शरीर जो अस्थि नाड़ी मांस लोहू से बना चर्म से बँधा मूत्रपुरीष से पूर्ण दुर्गंध युक्त जरा शोक से व्याप्त रोग का स्थान है। यह मिथ्या नाशमान व निषिद्ध है। यह मैं नहीं हूँ इस शरीर में मोहित होना अज्ञान मात्र है। यथा नदी के कँगार के वृक्ष अथवा वृक्ष के पक्षी का कँगार व वृक्ष से वियोग होता है। इसी प्रकार से इस देह से वियोग अवश्य होना है और देह से भिन्न यावत् पदार्थ हैं। इन सब नाश होनेवालों से 'मैं भिन्न हूँ' ऐसी भावना करने के अभ्यास से आत्मा के विवेक की सिद्धि होती है।।७५।।

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ।।७६।।

अधिकारियों के भेद से नियम नहीं है।।७६।।

मन्द आदि अधिकारियों के भेद होने से अभ्यास करने में इसी जन्म में क्रियमाण अभ्यास में विवेक की सिद्धि होती है। यह नियम नहीं है इससे अभ्यास में परिश्रम व साधन विचार विशेष करके आत्मज्ञान में उत्तम अधिकार प्राप्त करना उचित है।।७६।।

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ।।७७।।

बाधितों की अनुवृत्ति से मध्य विवेक से भी उपभोग है।।७७।।

मन्द, मध्यम, उत्तम विवेक के भेद हैं उत्तम विवेक से भी असम्प्रज्ञात योग होता है। जिसमें सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है। उससे मोक्ष होता है फिर दुःख नहीं होता व सम्प्रज्ञात योग में वृत्तियों का संस्कार सम्बन्ध रहता है। इससे प्रारब्धवश से फिर दुःख प्राप्त होता है। इससे यह कहा है कि, बाधित जो दुःख आदि हैं उनकी अनुवृत्ति से अर्थात् नाश होने के पश्चात् फिर प्राप्त होने से मध्यम विवेक से भी उपभोग है। अर्थात् मन्दविवेक जिसमें आत्मसाक्षात्कार नहीं होता वह तो उपभोग ही है। उसमें दुःख निवृत्त नही होता मध्यम विवेक जिसमें कहीं सम्प्रज्ञात योग से आत्मसाक्षात्कार होता है। और दुःख मे निवृत्त हो जाता है। उसमें भी संस्कार का नाश नहीं होता प्रारब्ध वश मे फिर दुःख प्राप्त होता है। इससे उत्तम विवेक ही से मोक्ष होना सिद्ध होता है अन्यथा नहीं यह भाव है।।७७।।

जीवन्मुक्तश्च ।।७८।।

जीवन्मुक्त भी।।७८।।

जीवन्मुक्त भी मध्यम विवेक में स्थित होता है। जीवन्मुक्त में प्रमाण कहते हैं।।७८।।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः ।।७९।।

उपदेश के योग्य व उपदेश करनेवाले के भाव से उसकी सिद्धि है।।७९।।

शास्त्र में विवेक विषय में उपदेश करनेवाला गुरु व उपदेश के योग्य जो शिष्य है। इन दोनों के भाव से अर्थात् गुरु व शिष्य के भाव से जीवन्मुक्त का मध्यम विवेकवान् होना सिद्ध होता है। उपदेश करनेवाले के उपदेश से जीवन्मुक्त होने की सिद्धि कहने से यह अभिप्राय सूचित होता है कि, जीवन्मुक्त ही का उपदेश करने में अधिकार है।।७९।।

श्रुतिश्च ।।८०।।

श्रुति भी।।८०।।

श्रुति भी जीवन्मुक्त होने में प्रमाण है यथा "ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि। अर्थ—ब्रह्म ही हो ब्रह्म में लय होता है! अर्थात् ब्रह्मभाव व प्रेम में मग्न हो ब्रह्म में लय होता है इत्यादि।।८०।।

शंका—मध्यम विवेकवान् जीवन्मुक्त ही का उपदेष्टा होना कहा है। मन्द विवेकवान् के उपदेश करने में क्या हानि है? उत्तर—

इतरथान्धपरम्परा ।।८१।।

अन्यथा अन्धपरंपरा होने की प्राप्ति है।।८१।।

अन्यथा अर्थात् मध्यम विवेकवान् के उपदेशक न होने व मन्द विवेकवान् के उपदेशक होने में अन्धपरम्परा की प्राप्ति होगी क्योंकि मन्दविवेकवान् उपदेश करनेवाले ही को जब यथार्थ बोध नहीं है तो जिस अंश में उसको निश्चय है। उसमें यथार्थ उपदेश करेगा और जिसमें उसी को भ्रम है उसमें मिथ्या उपदेश करेगा शिष्य को भी भ्रांतियुक्त कर देगा फिर वह अन्य को भ्रांत करेगा। इसी प्रकार से एक दूसरे में अंधपरम्परा की प्राप्ति होगी इससे जीवन्मुक्त मध्यम विवेकवान् ही उपदेश कर्त्ता होना योग्य है।।८१।।

शंका-ज्ञान से कर्मक्षय हो जाने पर फिर जीवन्मुक्त कैसे जीवन धारण करता है क्योंकि विना कर्म शरीर न रहना चाहिये? उत्तर-

चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥८२॥

चक्रभ्रमण के तुल्य शरीर धारण करता है॥८२॥

जैसे कुम्हार के कर्म निवृत्त हो जाने पर भी पूर्व कर्म के वेग से आप ही कुछ कालतक चक्र (कुम्हार का चाक) घूमता रहता है। इसी प्रकार से ज्ञान होने से कर्म निवृत्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के संस्कार वेग करके (वेग से) जीवन्मुक्त शरीर धारण किये रहता है॥८२॥

संस्कारलेशात्तत्सिद्धिः ॥८३॥

संस्कारलेश से उसकी सिद्धि है॥८३॥

संस्कारलेश से अर्थात् किंचित् कर्म संस्कार होने अथवा रहने से उसकी अर्थात् शरीर होने की सिद्धि है। अर्थात् जब सर्वथा कर्मसंस्कार का नाश होता है। तब शरीर धारण नहीं होता और जो कुछ भी संस्कार रहता है तो फिर जन्म होता है॥८३॥

विवेकान्निश्शेषदुःखनिवृत्तौकृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥८४॥

विवेक से सर्वथा दुःख निवृत्त होने में कृत्यकृत्यता (कृतार्थ होना) है दूसरे से नहीं दूसरे से नहीं॥८४॥

विवेक से परम वैराग्य द्वारा सब वृत्तियों का निरोध होने से जब सब दुःखों से छूटता है तभी पुरुष कृतार्थ होता है और से जीवन्मुक्ति आदि से भी कृतार्थ होना संभव नहीं है। इससे कहा है कि, केवल विवेक से कृतार्थ होना सिद्ध होता है। दूसरे उपाय से पुरुष कृतार्थ नहीं होता यह निश्चय है। दूसरे से नहीं यह दो बार कहना अध्याय की समाप्ति सूचना के अर्थ है॥८४॥

इति श्रीप्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीप्रभुदयालु-शास्त्रविन्निर्मिते सांख्यदर्शनदेशभाषाभाष्ये वैराग्याध्यायस्तृतीयः ॥३॥

चतुर्थोध्यायः ।।४।।

विवेक से ज्ञान साधने के वर्णन में चतुर्थाध्याय का प्रारंभ किया जाता है व साधारण समझने के लिये विवेक ज्ञान साधन में दृष्टांत इतिहास सहित वर्णन करते हैं–

राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात् ।।१।।

राजा के पुत्र के समान तत्त्व उपदेश से।।१।।

राजा के पुत्र के समान तत्त्व उपदेश से विवेक उत्पन्न होता है। यह सूत्र का अर्थ है विवेक होने का अर्थ पूर्व अध्याय के सम्बंध से ग्रहण किया जाता है। राजा के पुत्र के तुल्य कहने से इस इतिहास से अभिप्राय है कि कोई राजा का पुत्र किसी दोष विशेष से जब वह छोटा था किसी के साथ निकाल दिया गया था। उसको किसी चांडाल ने लेकर पालन पोषण किया चांडाल के गृह में रहने से अज्ञान वश उसने अपने को भी चांडाल मान लिया कुछ कालगत हुए कोई इसके हाल के जाननेवाले ने आकर कहा कि 'हे बालक तू राजपुत्र है चांडाल नहीं है'। यह सुनकर वह उसी क्षण चांडाल का अभिमान छोड़कर सच्चा जो राजा होने का भाव थां उसको प्राप्त हुआ कि, 'मैं राजा हूं'। इसी प्रकार से परिपूर्ण चेतन अविनाशी शुद्ध निर्विकाररूप तू है प्रकृतिरूप नहीं है ।यह तत्त्व उपदेश करुणावान् गुरु से सुनकर प्रकृति अभिमान को छोड़कर 'मैं ब्रह्मरूप हूं अर्थात् तत्त्व पदार्थ वा जाति से एक ही होने से उससे विजातीय संसारी नहीं हूं' ऐसा जानकर अपने स्वरूप को आलम्बन करता है।।१।।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ।।२।।

पिशाच के समान अन्य के अर्थ उपदेश में भी।।२।।

श्रीकृष्णचन्द्रजी अन्य के अर्थ अर्थात् अर्जुन के लिये उपदेश करते थे वहां समीप ही एक पिशाच था। अर्जुन के अर्थ जो उपदेश किया गया

उसके सुनने से पिशाच को विवेक उत्पन्न हो गया अन्य के लिये उपदेश होने में भी पिशाच के तुल्य समीपस्थ को विवेक उत्पन्न होता है। इससे सज्जन महात्माओं के समीप जाना सत्संग करना उचित है यह भाव है।।२।।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।।३।।

अनेक वार के उपदेश से आवृत्ति करना चाहिये।।३।।

एक वार के उपदेश से ज्ञान न होने से उपदेश की आवृत्ति अर्थात् फिर फिर चिंतन करना चाहिये क्योंकि छान्दोग्य आदि में जो इतिहास श्वेतकेतु आदि के हैं। उनमें अनेक वार वारम्वार चिंतन व मनन करने का उपदेश है। इससे आवृत्ति करना आवश्यक है आवृत्ति करना चाहिये।।३।।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ।।४।।

पिता पुत्र के सदृश जाननेवाला होने से।।४।।

अपने पिता व पुत्र के तुल्य अपना मरण व उत्पन्न होना जान लेने से (अनुमान करने से) वैराग्य सहित विवेक होता है। अर्थात् विना अन्य के उपदेश अपने पिता व पुत्र ही के देखने व स्मरण करने से व यह विचारने से कि, जैसे मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार से एक दिन मैं उत्पन्न हुआ हूंगा व जैसे मेरे पिता का मरण हुआ है। इसी प्रकार से मेरा भी मरण होगा इससे वैराग्य सहित विवेक उत्पन्न होता है।।४।।

श्वानवत् सुखिदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।।५।।

कुत्ता के समान त्याग व वियोग से सुखी व दुःखी होता है।।५।।

परिग्रह न करना चाहिये क्योंकि द्रव्यों के त्याग से लोक सुखी होता है वियोग से दुःखी होता है। जैसे कुत्ता मांस को लिये जाता है जो किसी ने मारकर अथवा बली कुत्ता बल से छीन लेता है। तो वह अति दुःखी होता है और जो आपसे छोड़ देता है तो दुःख से छूटता है।।५।।

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ।।६।।

सांप की केंचुल के समान ।।६।।

जैसे सांप पुरानी खाल (केंचुल) को छोड़ देता है। इसी प्रकार से

मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छा करनेवाला) प्रकृति को बहुत काल भोग की हुई जीर्ण त्याग के योग्य जानकर त्याग करता है।।६।।

छिन्नहस्तवद्वा ।।७।।

अथवा छिन्न हस्त के समान।।७।।

अथवा जैसे कटे हुये हाथ को फिर कोई अंगीकार नहीं करता न उसका कोई अभिमान करता है। इसी प्रकार से त्याग की हुई प्रकृति का फिर ज्ञानी अभिमान नहीं करता।।७।।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ।।८।।

असाधन में अनुचिंतन करना भरत के तुल्य बंधके अर्थ होता है।।८।।

विवेक जो अंतरंग साधन अंतःकरण से नहीं होता तो यद्यपि धर्म होवे तो भी अनुष्ठान करनेवाले के बंध का कारण होता है। जैसे जड़भरत ने दया करके हरिण के बच्चा का पोषण किया वह दया उन्हीं के बंध की कारण हुई। इससे विना विवेक धर्म कर्म का अनुष्ठान भी भरत के तुल्य वंध का हेतु होता है।।८।।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशंखवत् ।।९।।

बहुत के साथ योग होने से राग आदि से कुमारी के चूड़ियों के समान विरोध होता है।।९।।

बहुत से संग न करना चाहिये क्योंकि बहुत के संग में राग आदिकों से कलह होता है। वह कलह योग को भ्रष्ट करता है, जैसे कुमारी के हाथ की चूड़ी इस कुमारी के हाथ की चूड़ियों के दृष्टांत का व्याख्यान यह है कि, एक कुमारी के घर में महिमान आये महिमानों के लिये कुमारी धान कूटने लगी कूटने में उसकी चूड़ियां झनकार करती थीं। उसको यह लज्जा होती थी कि, महिमान मेरी चूड़ियों का शब्द सुनकर यह समझेंगे कि, इसके घर में कुछ और अन्न नहीं है और रंक है। इससे अपने हाथ से धान कूटती है इस लज्जा से वह एक एक फोर चली जब दो रह गईं तब तक शब्द होना बंद न हुआ जब एक रह गई तब शब्द होना बंद हो गया। उसको सुख हुआ इच्छानुसार अपना काम किया। इसी प्रकार से एकाकी होने में योगी को सुख होता है संग में कलह व दुःख होता है।।९।।

द्वाभ्यामपि तथैव ।। १०।।

दो के साथ उसी प्रकार से।। १०।।

जो यह समझा जाय कि, बहुत से संग न करना चाहिये दो होने में हानि नहीं है। तो दो होने में भी हानि होना जानकर संग का निषेध किया है कि दो के साथ में भी उसी प्रकार से कलह व विरोध होता है इससे एकांत में एकाकी रहना चाहिये।। १०।।

निराशः सुखी पिङ्गलावत् ।। ११।।

आशा रहित पिङ्गला वेश्या के समान सुखी होवे।। ११।।

आशा को त्याग करके पुरुष संतोष को प्राप्त हो सुख को लाभ करे जब तक आशा त्याग नहीं करता सुख को नहीं प्राप्त होता। जैसे एक पिंगला नाम वेश्या एक दिन कान्त की इच्छा करती रही। परंतु कोई उस दिन उसके मनोरथ पूर्ण करने को न आया तब उसको बड़ा खेद हुआ। कुछ काल में खेद के पश्चात् उसको ज्ञान हुआ कि, तुच्छ मनुष्यों की आशा करके मैं सब जन्म गतकर दिया मनुष्यों की आशा से कुछ नहीं है। ऐसा विचारकर आशा को छोड़ दिया जब तक वह आशा करती रही नींद न आई दुःखी रही जब आशा त्यागकर दिया सुखपूर्वक सो गई। आशा त्यागने से यथा पिंगला सुखी हुई है तथा आशा त्यागकर पुरुष सुखी होवे यह उपदेश है।। ११।।

अनारंभेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ।। १२।।

विना घर बनाये भी सर्प के तुल्य पर के घर में सुखी होवे।। १२।।

ज्ञानी घर बनाने का आरंभ न करे विना घर बनाये सर्प के तुल्य सुखी रहे सर्प जहां छिद्र पाता है वहां घर बना लेता है। इसी प्रकार से ज्ञानी जहां पहुँच जाय वहीं घर है पर के घर में सुखी रहे।। १२।।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ।। १३।।

बहु शास्त्र व गुरु उपासन में भी भ्रमर के समान सार का ग्रहण करें।। १३।।

जैसे भ्रमर फूलों से सार को ग्रहण करता है। इसी प्रकार से विवेकी सब शास्त्रों व गुरु के उपदेश में सार को ग्रहण करे।। १३।।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।।१४।।

बाण बनानेवाले के समान एकाग्र चित्त हुए की समाधि की हानि नहीं होती।।१४।।

यथा एक बाण का बनानेवाला बाण को बना रहा था। उसी समय में एक राजा बड़ी भीड़ समेत पास से चला गया उसने न जाना। इसी प्रकार से जिसका अच्छे प्रकार से एकाग्र चित्त हो जाता है। उसका चित्त अन्य विषयों में नहीं जाता व एकाग्रता ही से समाधि के द्वारा विवेक के साक्षात्कार होने की सिद्धि होती है।।१४।।

कृतनियमोल्लंघना दानर्थक्यंलोकवत् ।।१५।।

कृत नियम के उल्लंघन से लोक के समान अनर्थक होता है।।१५।।

शास्त्र में जो नियम योगियों के लिये किया है उस कृत नियम के उल्लंघन में ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। उल्लंघन करने से केवल अनर्थक होता है जैसे लोक में भोजन आदि में जो विहित पथ्य है उसके उल्लंघन से रोगनाश की सिद्धि नहीं होती।।१५।।

तद्विस्मरणेपि भेकीवत् ।।१६।।

उसके भूलने में भी भेकी के समान।।१६।।

उसके अर्थात् नियम के भूलने में भी अनर्थ होता है जैसा कि, भेकी का दृष्टांत है। इसकी कथा यह है कि, कोई राजा शिकार खेलने गया था। वहाँ एक मायारूपिणी सुन्दरी कन्या को देखा राजा उसकी सुन्दरता को देखकर उससे अपनी भार्या होने की प्रार्थना किया उस कन्या ने अंगीकार किया परंतु यह नियम किया कि, जब तुम मुझे जल दिखाओगे तब मैं जल में प्रवेश कर जाऊंगी। एक समय क्रीड़ा करके दोनों श्रमित भये उस कन्या ने कहा कि, जल कहाँ है। राजा को जो उसके किये हुए नियम को भूलकर जल देखाया कि, 'यह जल है' जल दिखाते ही वह कन्या मायारूपा इच्छाचारी भेकी रूप हो जल में प्रवेश कर गई। राजा ने बहुत प्रकार से जल में खोजा परंतु उसका कुछ पता न लगा जिस प्रकार से राजा को नियम भूलने से अत्यंत दुःख हुवा, इसी प्रकार से नियम भूलने से योग में अनर्थ होता है यह अभिप्राय है।। १६।।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

विना परामर्श (विचार) विरोचन के सदृश उपदेश श्रवण में भी कृतार्थता नहीं है॥१७॥

विना परामर्श अर्थात् गुरुवाक्य के तात्पर्य निर्णय करनेवाले विचारके उपदेश वाक्य सुनने में भी तत्वज्ञान होने का नियम नहीं है। ब्रह्मा के उपदेश सुनने में इन्द्र व विरोचन दोनों में से विरोचन को परामर्श के अभाव से भ्रान्ति बनी रही। इससे गुरु के उपदेश में मनन करना भी आवश्यक है। केवल सुनने से कृतार्थता नहीं होनी अर्थात् सुन लेने से कोई कृतार्थ नहीं हो जाता॥१७॥

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥

उन दोनों के मध्य में इन्द्र का परामर्श जाना गया॥१८॥

उन दोनों इन्द्र व विरोचन में से केवल इन्द्र का परामर्श जाना गया। इन्द्र में परामर्श होने से उपदेश का बोध हुआ, विरोचन को परामर्श के अभाव से उपदेश का बोध न हुआ, इसमें परामर्श आवश्यक है॥१८॥

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत् ॥१९॥

बहुकाल से प्रणति ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन) व सेवा करके उसके समान सिद्धि होती है॥१९॥

बहु काल से प्रणति (नम्रता) वेदाध्ययन व सेवा करके अर्थात् बहुतकाल गुरु की सेवा से उसके समान अर्थात् इन्द्र के समान अन्य को भी सिद्धि (तत्त्वज्ञान की सिद्धि) होती है॥१९॥

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

वामदेव के सदृश काल का नियम नहीं है॥२०॥

पूर्वजन्म के साधन के संस्कार से शीघ्र (जल्दी) भी सिद्धि होती है। सबको बहुत काल का नियम नही है यथा वामदेव को जन्मान्तर के साधन से गर्भ ही में ज्ञान उदय हुवा और यह कहा "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति।

अर्थ—मैं मनु हुआ था और सूर्य हुआ था इस प्रकार से जन्मान्तर का

ज्ञान व ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ यह श्रुति बृहदारण्यक में है। इसी प्रकार से जन्मान्तर के साधन से अन्य को भी शीघ्र ही तत्त्वज्ञान हो सकता है।।२०।।

अध्यस्तरूपोपासनात्पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ।।२१।।

अध्यस्त रूपों के उपासना से परम्पराक्रम होने के द्वारा यज्ञ उपासकों के समान।।२१।।

अध्यस्तरूप जो ब्रह्मा विष्णु हर आदि हैं। उनके उपासकों को परम्परा क्रम से यज्ञ उपासकों के तुल्य उच्चलोकों की अर्थात् ब्रह्म आदि लोकों की क्रम से प्राप्ति होती है। अथवा सत्त्व शुद्धि द्वारा क्रम से ज्ञान की प्राप्ति होती है। परंतु साक्षात् ज्ञान की सिद्धि नहीं है। इससे साक्षात् ज्ञान की सिद्धि शुद्ध परमात्मज्ञान ही से है।।२१।।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ।।२२।।

इतर के लाभ होने पर भी आवृत्ति होती है पंचाग्नि योग से जन्म सुनने से।।२२।।

निर्गुण आत्मा से इतर जो अध्यस्तरूप ब्रह्मलोक पर्यंत हैं। उनके लाभ होने पर भी फिर आवृत्ति होती है। अर्थात् फिर जन्म आदि व दुःख की प्राप्ति होती है किस प्रमाण से आवृत्ति होने की सिद्धि है। पंचाग्नियोग से जन्म सुनने से अर्थात् छान्दोग्य उपनिषद् के पंचम प्रपाठक में यह वर्णन किया है कि. देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त हुवा जो पुरुष है उसका भी स्वर्ग, मेघ, पृथ्वी, देवता, स्त्रीरूप, पंच अग्नि में आहुति होने से फिर जन्म होता है और जो ब्रह्मलोक से आवृत्ति न होने में वाक्य है। वह जिसको ज्ञान उत्पन्न है उसके विषय में है जो प्रकृति कार्य बँधा व तत्त्वज्ञान रहित है उसके लिये नहीं है।।२२।।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयमुपादानं हंसक्षीरवत् ।।२३।।

विरक्त का त्याग के योग्य का त्याग करना व ग्रहण के योग्य का ग्रहण करना हंस के क्षीर ग्रहण करने के समान होता है।।२३।।

यथा हंस दूध व जल के एक भाव होने पर अर्थात् दोनों के मिल जाने पर असार जल को त्यागकर सार दूध को ग्रहण करता है। इसी

प्रकार से विरक्त को हेय (त्याग के योग्य) जो प्रकृति है।उसका त्याग व विवेक से आत्मज्ञानक धारण वा ग्रहण होता है जैसे हंस ही जल से भिन्न करके दूध को ग्रहण करता है काक आदि नहीं करते। इसी प्रकार से विरक्त ही आत्मज्ञान को धारण करता है वा प्राप्त होता है अज्ञानी विषयी नहीं प्राप्त होता।।२३।।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत ।।२४।।

जिसको अतिशय ज्ञान प्राप्त है उसके योग से भी उसके समान होता है।।२४।।

जिसने अतियोग साधन से अतिशय ज्ञान व अधिकार को लाभ किया है। उसके संग से भी उसके सदृश विवेक उदय होता है यथा अलर्क को दत्तात्रेय महात्मा के संगमात्र से आपसे विवेक उदय हुआ।।२४।।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ।।२५।।

रागोपहत पुरुष के समीप शुक (सुवा) के सदृश कामाचारी न होना चाहिये।।२५।।

रागोपहत पुरुष के समीप अर्थात् जिसका चित्त राग करके ग्रस्त है। अच्छे रूप आदि विषय के ग्रहण की इच्छा युक्त है। उसके समीप इच्छा अनुसार गमन न करना चाहिये यह अभिप्राय है क्योंकि उसके संग से अपने चित्त को रागग्रस्त वा बद्ध हो जाने का भय है; बँध जाने के भय से इस प्रकार से रागोपहत का संग न करना चाहिये जैसे बहेलिया अथवा अन्य मनुष्य से बांधे जाने के भय से शुक पक्षी इच्छा से गमन नहीं करता अथवा जैसे दाना के लालच में शुक कामचारी हो (इच्छा अनुसार जाकर) फँस जाता है। ऐसा कामचारी इन्द्रिय विषय में न होना चाहिये।।२५।।

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ।।२६।।

गुणयोग से शुक के समान बद्ध होता है।।२६।।

कामी विषयी पुरुषों का संग न करना चाहिये क्योंकि उनके ही गुणों के योग से बद्ध होता है। अर्थात् बँध जाता है यथा शुक पक्षी व्याध के गुण योग अर्थात् जाल रस्सी के योग से बँध जाता है अथवा रूप गुण के

योग से रूपलोलुप पुरुषों के बांधने से बँध जाता है।।२६।।

न भोगाद्रागशांतिर्मुनिवत् ।।२७।।

मुनि के सदृश भोग से राग की शांति नहीं होती।।२७।।

विषयभोग से यथा सौभरिमुनि के राग की शांति नहीं हुई इसी प्रकार से विषयभोग से राग की शांति नहीं होती। अर्थात् जो यह संकल्प करे कि अच्छे प्रकार से भोगकरके जब चित्त शांत हो जायगा तब छोड़ देना होगा तो विषयभोग से चित्त कभी शांत नहीं होता इच्छा बनी ही रहती है। केवल विवेक वैराग्य ही से राग की शांति होती है।।२७।।

दोषदर्शनादुभयोः ।।२८।।

दोनों में दोष देखने (विचारने) से।।२८।।

दोनों में अर्थात् प्रकृति व प्रकृति के कार्य में परिणाभी होना दु:खात्मक होना आदि दोष देखने से अर्थात् विचारने से विषय के राग की शांति होती है। यथा सौभरिमुनि जब तक भोग में प्रवृत्त रहे तब तक राग की शांति न हुई जब संग दोष का विचार किया तब वैराग्य से राग का नाश हुआ।।२८।।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ।।२९।।

अज के समान मलिन चित्त में उपदेश का बीज नहीं जमता।।२९।।

उपदेशरूप जो ज्ञान वृक्ष का बीज है उसका अंकुर विषय प्रीति से जिसका चित्त मलिन है। उसके चित्त में नहीं जमता जैसे राजा अज को अपनी स्त्री का शोक था। स्त्री की प्रीति से चित्त मलिन होने के कारण से वसिष्ठ ऐसे उपदेश करता राजा को उपदेश किया परंतु राजा के मलिन चित्त में उपदेश के बीज का अंकुर उत्पन्न न हुआ।।२९।।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ।।३०।।

मलिन दर्पण के समान आभास मात्र भी नहीं होता।।३०।।

जैसे मलिन दर्पण में किंचित् आभास अर्थात् प्रतिबिंब की छाया मात्र भी नहीं देख पड़ती। ऐसे ही मलिन चित्त में ज्ञान का आभास नहीं होता।।३०।।

न तज्जस्यापि तद्रूपता पंकजवत् ॥३१॥

उससे उत्पन्न का भी कमल के सदृश वही रूप होना सिद्ध नहीं होता॥३१॥

उससे अर्थात् उपदेश से उत्पन्न का भी वही रूप होना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् जैसा उत्तम उपदेश है वैसा ही उत्तम ज्ञान मलिन चित्त में भी होवे यह नहीं होता जो कुछ हुवा भी तो वह उपदेश के अनुसार नहीं होता जैसा उत्तम कमल का बीज जो निकृष्ट पंक में पड़ जाता है तो उससे यद्यपि कमल उत्पन्न होता है। परंतु पंक (कीचड़) के दोष से बीज के समान उत्तम नहीं होता॥३१॥

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धि वदुपास्यसिद्धिवत् ॥३२॥

ऐश्वर्य योग में भी कृतार्थता नहीं है उपास्यों की सिद्धि के तुल्य उपास्यों की सिद्धि के तुल्य॥३२॥

ऐश्वर्य योग में (ऐश्वर्य होने में) भी कृतार्थता नहीं है अर्थात् क्षय होने का भय का दुःख होने से कृतार्थता नहीं है जैसे उपास्य जो ब्रह्मा आदि हैं। उनको सिद्धि प्राप्त होने में भी कृतार्थता नहीं है क्योंकि उनका भी योगनिद्रा आदि में योगाभ्यास करना सुना जाता है। अर्थात् ऐश्वर्य व सिद्धि को प्राप्त उपास्य ब्रह्मा आदि भी सर्वथा मुक्त नहीं हैं वे भी योगसाधक हैं इससे ऐश्वर्य योग में कृतार्थता नहीं है॥३२॥

इति श्रीप्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततरेहीत्याख्यग्रामवासिप्रभुदयालु-शास्त्रविनिर्मिते सांख्यदर्शन देशभाषाभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

पंचमोऽध्यायः ।।५।।

पंचम अध्याय में इस शास्त्र में अन्य के पूर्वपक्षों का समाधान करने के अर्थ व अपने मत सिद्ध करने में हेतु व प्रमाणों को सूत्रकार वर्णन करते हैं–

मंगलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतिश्चेति ।।१।।

मंगलाचरण किया गया है शिष्टाचार से फल दर्शन से श्रुतिप्रमाण से।।१।।

इस शंका के निवारण के अर्थ प्रथम सूत्र के आदि में 'अथ' शब्द व्यर्थ कहा है। इस सूत्र में यह कहा है कि, 'अथ' शब्द से मंगलाचरण किया गया है। यह मंगलाचरण शिष्टाचार से (अच्छे पुरुषों के करने से) फल दर्शन से व श्रुतिप्रमाण से अर्थात् श्रुति में कथित होने से आदि में किया जाना यथार्थ व उचित है।।१।।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धः ।।२।।

ईश्वर के अधिष्ठित होने में फल की सिद्धि नहीं है कर्म से उसकी (फल की) सिद्धि होने से।।२।।

पूर्व ही ईश्वर की सिद्धि न होने से इत्यादि सूत्रों से ईश्वर के इच्छापूर्वक सृष्टि कर्त्ता होने के प्रमाण का प्रतिषेध किया है। परंतु जो ईश्वर के प्रतिपादन में यह कहते हैं कि कोई कर्म फल का देनेवाला ईश्वर सिद्ध होता है इत्यादि पूर्वपक्ष स्थापन करनेवालों के हेतुओं के प्रतिषेध करने का अभिप्राय से प्रथम ईश्वर के फल दाता होने के प्रतिषेध में, इस सूत्र में यह कहा है कि ईश्वर अधिष्ठित कारण में कर्म फलरूप परिणाम की सिद्धि मानना युक्त नहीं है। क्योंकि आवश्यक कर्म ही से फल की सिद्धि होना संभव है। अर्थात् आवश्यक कर्म विशेष व प्रकृति के संयोग विशेष से स्वाभाविक फल विशेष होता है। यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है। इससे आवश्यक कर्महीसे फल की सिद्धिं होने से ईश्वर से फल होने की सिद्धि नहीं है।।२।।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥३॥

अपने उपकार से लोक के समान अधिष्ठान होवे॥३॥

ईश्वर को फलदाता न मानकर और ईश्वर का सृष्टि करने में कुछ प्रयोजन न मानने से जो ईश्वर के सृष्टि कर्ता होने का प्रतिषेध किया गया है। उस प्रतिषेध का यथार्थ होना अंगीकार न करके ऐसा माना जावे कि ईश्वर के अधिष्ठाता होने में ईश्वर का भी कुछ अपना उपकार होना माना जावे और अपने उपकार से अधिष्ठान होवे जैसे लोक में राजा आदि अपने भृत्य आदि व राज आदि कार्य में अपने उपकार समेत अधिष्ठाता होते हैं। ऐसा मानने में क्या दोष है? इसका उत्तर आगे सूत्र में कहते हैं॥३॥

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

अन्यथा लोकवाले ईश्वरों के सदृश होगा॥४॥

अन्य प्रकार से अर्थात् जैसा ईश्वर का लक्षण पूर्ण काम आदि हैं। उसके विरुद्ध जो ईश्वर का भी उपकार होना अंगीकार किया जावे तो लोकवाले ईश्वरों के सदृश वह भी संसारी अपूर्ण काम होगा॥४॥

पारिभाषिको वा ॥५॥

अथवा पारिभाषिक होगा॥५॥

पारिभाषिक होगा अर्थात् उसमें परिभाषा मात्र होगी। भाव इसका यह है कि, संसारी सृष्टि आदि में उत्पन्न पुरुष को जो ईश्वर मानोगे तो संसारी सृष्टि के आदि में उत्पन्न पुरुष में ईश्वर शब्द का कथन मात्र होगा। जैसा हम मानते हैं वैसा ही तुम्हारा मानना हो जायगा। अर्थात् योग व तप विशेष से प्रकृति में लीन हुए जो सृष्टि की आदि में समर्थ ऐश्वर्य को प्राप्त पुरुष उत्पन्न होते हैं उनको हम सिद्ध कहते हैं। तुम ईश्वर कहते हो यह समझा जायगा अथवा शब्द कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टि करने में ईश्वर का उपकार वा प्रयोजन मानने में लौकिक ईश्वर के तुल्य ईश्वर के आप्त काम होने में प्रतिषेध होता है। इससे दो में एक मानना चाहिये अर्थात् चाहे यह माने कि राग से अपने उपकारके अर्थ लौकिक ईश्वर के तुल्य सृष्टि करता नहीं है अथवा है तो

पारिभाषिक नाम मात्र है।।५।।

शंका—विना राग ही सृष्टि कर्ता माना जावे? उत्तर—

न रागादृत तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।।६।।

विना राग उसकी सिद्धि नहीं है प्रति नियत कारण होने से।।६।।

विना राग उसकी अर्थात् सृष्टि की सिद्धि नहीं हो सकती किस हेतु से नहीं हो सकती, प्रतिनियत कारण होने से प्रतिनियत कारण वह है कि, जो कार्य की उत्पत्ति का विशेष कारण हो विना उसके वह कार्य न हो सके विना राग के प्रवृत्ति नहीं होती। इससे राग प्रवृत्ति का प्रतिनियत कारण है प्रवृत्ति विना सृष्टिकार्य होना संभव नहीं है। इससे राग के प्रतिनियत कारण होने से विना राग के सृष्टि की सिद्धि नहीं हो सकती।।६।।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ।।७।।

उसके योग में भी ईश्वर मानने में नित्य मुक्त न होगा।।७।।

उसके अर्थात् राग के योग होने में भी ईश्वर होना अंगीकार करने में ईश्वर नित्य मुक्त होगा नित्य मुक्त न होने से तुम्हारे सिद्धांत की हानि होगी।।७।।

शंका—तीनों गुणों की सम अवस्था रूप जड़ प्रकृति में नित्य इच्छा आदि का होना संभव नहीं है। इससे दो प्रकार से इच्छा आदि का होना मानने योग्य है। एक यह कि प्रधान की शक्ति के योग से साक्षात्—चेतन संबंध से इच्छा आदि धर्म होते हैं। अथवा अयस्कांत मणि के तुल्य सन्निधि सत्ता मात्र से प्रेरक होने से होते हैं? इन दोनों में से प्रथम प्रधान शक्ति के योग होने का उत्तर वर्णन करते हैं—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ।।८।।

प्रधान के शक्ति के योग से माना जाय तो संग की प्राप्ति होती है।।८।।

प्रधानशक्ति, इच्छा आदि का पुरुष में योग होने से सृष्टि करना पुरुष में माना जाय तो पुरुष में भी संग होने का धर्म प्राप्त होगा व श्रुति में पुरुष को असंग वर्णन किया है। इससे श्रुति विरुद्ध होगा अतएव

प्रधान शक्ति का योग अंगीकार करना युक्त नहीं है। पुरुष के असंग वर्णन करने में श्रुति यह है "सयत्तत्र पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोह्ययं पुरुष:" अर्थ–जिससे कि, वह उक्त ज्ञानवान् विवेक को प्राप्त उसमें विवेक प्राप्त होने में आत्मज्ञान होने की दशा में पुरुष अपने आत्मा को प्रकृति से भिन्न जानता है इससे पुरुष असंग है॥८॥

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

सत्तामात्र से चेतन का ऐश्वर्य माना जावे तो सबका ऐश्वर्य सिद्ध है॥९॥

जो अयस्कांत के तुल्य सन्निधि सत्तामात्र से चेतन का ऐश्वर्य होना माना जायगा तो सब भोक्ता पुरुषों का विशेषण रहित ऐश्वर्य जैसा हम कहते हैं। उसी प्रकार से होना सिद्ध होता है क्योंकि अखिल (सम्पूर्ण) भोक्ताओं के संयोग ही से प्रधान करके महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति होने का अनुमान होता है। अन्यथा नहीं होता सन्निधि सत्तामात्र से ईश्वर का होना यद्यपि सिद्ध होता है। परंतु सन्निधि सत्तामात्र से ऐश्वर्य होना व प्रकृति का स्वामी व भोक्ता होना सब पुरुषों का सिद्ध होता है। सब पुरुषों का व ईश्वर का एक ही सदृश सन्निधि सत्ता मात्र से चेतनैश्वर्य सिद्ध होने से ईश्वर की विशेषता नहीं रहती व ईश्वर होने में भी जो हमारा सिद्धांत है वही सिद्ध होता है। अपनी इच्छा से सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला सर्व समर्थ होना आदि जैसा तुम मानते हो उस प्रकार से सिद्ध नहीं होता इससे तुम्हारे सिंद्धांत की हानि है॥९॥

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

प्रमाण के अभाव से उसकी सिद्धि नहीं है॥१०॥

जो यह कहा जावे कि, ईश्वर के सृष्टि कर्त्ता होने के प्रमाण में विरुद्ध तर्क करना असत् तर्क है कुतर्क करके ईश्वर का प्रतिषेध करना युक्त नहीं है। इस शंका के निवारण के लिये यह कहा है कि, प्रमाण के अभाव से उसकी अर्थात् ईश्वर के सृष्टिकर्ता होने की सिद्धि नहीं है। अभिप्राय यह है कि, जो किसी प्रमाण से ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना सिद्ध होता है तो उसका प्रतिषेध करना असत् होता परंतु प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

इससे असत् नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से ईश्वर का सिद्ध न होना साधार विदित है। अनुमान शब्द से सिद्ध न होने के हेतु आगे सूत्रों में वर्ण करते हैं।।१०।।

सम्बंधाभावान्नानुमानम् ।।११।।

सम्बंध के अभाव से अनुमान नहीं हो सकता।।११।।

'सम्बंध' शब्द का अर्थ यहाँ व्याप्ति का है सम्बंध के अभाव से अर्था व्याप्ति की सिद्धि न होने से ईश्वर का अनुमान नहीं हो सकता क्यों सम्बंध (व्याप्ति) का ज्ञान पूर्व प्रत्यक्ष से होता है। ईश्वर में पूर्व प्रत्य का कुछ सम्बंध नहीं है इससे अनुमान से ईश्वर का प्रमाण नहीं ह सकता अथवा प्रयोजन व प्रवृत्ति में सम्बंध होने से विना प्रयोजन कर्म प्रवृत्ति नहीं होती। ईश्वर में प्रयोजन होना सिद्ध न होने से (प्रयोजन अभाव से) ईश्वर के सृष्टि कर्त्ता होने का अनुमान नहीं हो सकता।।११।।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।।१२।।

श्रुति भी प्रधानकार्य होने की है।।१२।।

श्रुति भी प्रधान के कार्य होने में है इससे शब्द से भी ईश्वर का सृष्टि का कारण होना व जगत् ईश्वर का कार्य होना। अर्थात् प्रकृति के सदृ ईश्वर का उपादान कारण होना सिद्ध नहीं होता। जगत् के प्रधान कार्य होने के प्रमाण में श्रुति यह है "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" अर्थ–एका अजा (प्रकृति) लोहित शुक्ल कृष्ण रूप को अर्थात् रज सत्त्व तम गुण रूप को अपने स्वरूप से बहुत प्रजा जिसने उत्पन्न किया उसका एक अज पुरुष उसके साथ प्रीति करता हुआ शयन करता है। अर्थात् भोग करता है व दूसरा अज (पुरुष) जो विरुक्त है वह इस भोग की हुई अजा को परित्याग करता है औ "तदैक्षत बहुस्याम्" इत्यादि। अर्थ–उसने इच्छा किया कि, 'मैं बहुत होऊं' इत्यादि जो चेतन की प्रतिपादक श्रुति हैं वे सृष्टि की आदि मे महत्तत्त्व औपाधिक जो महापुरुष है उसको जो ज्ञान उत्पन्न हुवा है उसके ज्ञान वर्णन में हैं। अथवा कूल गिरने की इच्छा करता है, यह

कहने के समान प्रकृति विषय में यह श्रुति गौणी है। ऐसा मानना चाहिये जो ऐसा नहीं माना जावेगा तो "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" अर्थ–साक्षी चेतन केवल निर्गुण है' इत्यादि श्रुति से परिणामी होना पुरुष में संभव नहीं होता। इससे प्रधान ही का कार्य जगत् है यह जो ईश्वर का प्रतिषेध है। ऐश्वर्य में वैराग्य होने के अर्थ व विना ईश्वर ज्ञान के भी मोक्ष प्राप्त होने के योग्य है। यह प्रतिपादन के अर्थ प्रौढि वादमात्र है यह जानना चाहिये। अन्यथा औपाधिकों के नित्य ज्ञान इच्छा आदि महत्तत्त्व के परिणाम रूपों के अंगीकार करने में औपाधिकों का कूटस्थ होना संभव होगा। औपाधिकों का नित्य कूटस्थ होना सिद्ध न होने से प्रमाण के योग्य नहीं है इत्यादि। प्रकृति के जगत्कर्ता होने का प्रतिषेध ब्रह्ममीमांसा में अर्थात् वेदान्त सूत्रों में देखना चाहिये।।१२।।

अब अविद्या से बंध नहीं होता यह जो प्रथम अध्याय में सिद्धांत वर्णन किया है फिर यहाँ विस्तार से वर्णन करते हैं–

नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ।।१३।।

निःसंग का अविद्या शक्ति के साथ योग नहीं है।।१३।।

जो यह शंका करे कि, प्रधान नहीं है अविद्या शक्ति चेतन में रहती है उसी से बंधन होता है। उसके नाश से मोक्ष होता है इसके उत्तर में यह सूत्र है कि, निःसंग (संगरहित) पुरुष का अविद्याशक्ति के साथ साक्षात् योग होना संभव नहीं होता। क्योंकि प्रकृति वा प्रकृतिकार्य रूप अपने को अज्ञान से पुरुष का मानना अविद्या है। यह अविद्या विकार विशेष अधिकार हेतु संयोगरूप संग के बिना संभव नहीं होता।।१३।।

शंका–अविद्यावश ही से अविद्या का योग कहना चाहिये और अविद्या के पारमार्थिक न होने से अविद्या के साथ संग नहीं है। ऐसा मानना चाहिये? उत्तर–

तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम् ।।१४।।

उसके योग में उसकी सिद्धि होने में परस्पर आश्रय होना है।।१४।।

उसके योग में उसकी सिद्धि होने में अर्थात् अविद्या के योग से

अविद्या सिद्धि होने में परस्पर एक दूसरे के आश्रय होना है और इस प्रकार से परस्पर आश्रय होना माने जाने में अनवस्था दोष की प्राप्ति है।।१४।।

शंका–बीजांकुर के तुल्य होने में अनवस्था दोष नहीं है। अर्थात् जैसे यह नहीं जाना जाता है कि, बीज पहिले हुआ अथवा अंकुर, इसी प्रकार से अविद्या अविद्या के आश्रय होने में कहना चाहिये? उत्तर–

न बीजांकुरवत्सादिसंसारश्रुतेः ।।१५।।

संसार के सादि होने के प्रमाण में श्रुति होने से बीज व अंकुर के तुल्य नहीं है।।१५।।

संसार के आदि संयुक्त होने में श्रुति प्रमाण होने से बीज व अंकुर के तुल्य नहीं है श्रुति यह है "विज्ञानघन एवैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय-तान्येवानु विनश्यति" अर्थ–विज्ञानघन ही इन भूतों से उठाकर अर्थात् उत्पन्न करके उन ही को फिर नाश करता है इत्यादि।।१५।।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ।।१६।।

विद्या से अन्य होने में ब्रह्म के नाश होने का प्रसंग है।।१६।।

जो विद्या से अन्य होना ही अविद्या शब्द का अर्थ माना जावे तो ब्रह्मज्ञान का नाश होने से ब्रह्म (आत्मा) का भी नाश होने का प्रसंग है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानरूप विद्या (ज्ञान) भिन्न अर्थात् विना विद्या नहीं रह सकता।।१६।।

अबाधे नैष्फल्यम् ।।१७।।

बाधा न होने में निष्फल होना है।।१७।।

जो अविद्या भी रही और विद्यामय जो है उसमें विद्या से अविद्या को बाधा न हुई। अर्थात् अविद्या का नाश न हुवा तो विद्या का होना ही निष्फल है। अन्य पुरुष में भी विद्या होने से कुछ फल न मानना चाहिये और विद्या का होना व मानना ही वृथा है।।१७।।

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ।।१८।।

विद्या से बाधा के योग्य होने में जगत् का भी इसी प्रकार से।।१८।।

जो विद्या से बाधा (नाश) के योग्य है उसको अविद्या होना माना

जावे तो जगत् का प्रकृति महत्तत्त्व आदि जो अखिल प्रपंच है। सबका अविद्या होना सिद्ध होगा क्योंकि विद्या से यह बाधा (नाश) के योग्य है और जो अविद्या ही प्रकृति महत्तत्त्व आदि सब हैं। तो ज्ञान से अविद्या के नाश होने में चक्षु आदि से स्थूल जगत् का प्रत्यक्ष न होना चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता इससे विद्या से बाधा (नाश) के योग्य अविद्या का लक्षण नहीं हो सकता।।१८।।

तद्रूपत्वे सादित्वम् ।।१९।।

उसी के रूप होने में सादि होना सिद्ध होगा।।१९।।

उसी के रूप होने में अर्थात् विद्या से बाधा के योग्य पदार्थ हो अविद्या होने में अविद्या का अनादि होना सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् जो किसी प्रकार से विद्या से नाश के योग्य पदार्थ ही अविद्या मान ली जावे तथापि पुरुष में अविद्या का सादि (आदि सहित) होना सिद्ध होगा। अनादि होना सिद्ध न होगा क्योंकि 'विज्ञानघन एव'' इत्यादि। अर्थ–'विज्ञानरूप ही है' इत्यादि श्रुतियों से प्रलय आदि में पुरुष का ज्ञानस्वरूप होना सिद्ध होता है। इससे अविद्या संयोग पुरुष में अनादि पारमार्थिक सिद्ध नहीं होता अविद्या के अनादि माननेवालों का मत मिथ्या है अविद्या बुद्धि का धर्म है। पुरुष का धर्म नहीं है यह श्रुति प्रमाण से पुरुष के विज्ञानरूप होने से सिद्ध है।।१९।।

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ।।२०।।

प्रकृति के कार्यों में विचित्रता होने से धर्म का अपलाप (मिथ्या कथन) संभव नहीं होता।।२०।।

प्रत्यक्ष न होने से धर्मकर्म का अपलाप संभव नहीं होता। अर्थात् यह जो कहा गया है कि कर्म निमित्त से प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इस पर जो यह शंका की जावे कि, इस कर्म वा धर्म का यह फल हुवा अथवा इस धर्म से प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। यह प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने से ऐसा मानना मिथ्या है। इस पूर्व पक्ष के समाधान के अर्थ यह कहा है कि, प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने से धर्म का अपलाप नहीं है अनुमान से यह सिद्ध है कि, नाना प्रकार के कर्म अनुसार प्रकृति के

विचित्र कार्यरूप सृष्टि होती है। अन्यथा प्रकृति के विचित्रकार्य अनेक प्रकार के शरीर व भोग होने का कोई हेतु सिद्ध नहीं होता॥२०॥

अन्य भी प्रमाण वर्णन करते हैं–

श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

श्रुतिप्रमाण आदि से उसकी सिद्धि है॥२१॥

श्रुतिप्रमाण से धर्म आदि की सिद्धि है श्रुति यह है "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" अर्थ–पुण्य से उत्तम व पाप से निकृष्ट होता है। धर्म के प्रत्यक्ष न होने से मूढ़ वाद करते हैं कि, धर्म का मानना मिथ्या है परंतु धर्म अनुमान से वेद प्रमाण से विद्या से अर्थात् ज्ञान उदय होने से योगियों को प्रत्यक्ष से सिद्ध होने से सिद्ध होता है॥२१॥

जो यह संशय हो कि प्रत्यक्ष नहीं है इससे न मानना चाहिये इस संशय के निवारण के लिये आगे सूत्र में उत्तर वर्णन करते हैं–

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥

अन्यप्रमाणों के अवकाश होने से नियम नहीं है॥२२॥

प्रत्यक्ष के अभाव से वस्तु के अभाव होने का नियम है। क्योंकि जो प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता वह अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है। अन्य प्रमाणों के अवकाश होने से प्रत्यक्ष ही से सिद्ध होने का नियम नहीं है। इससे अनुमान आदि प्रमाणों से धर्म सिद्ध होने से सिद्ध व सत्य है॥२२॥

धर्म के तुल्य अब अधर्म को भी सिद्ध करते हैं–

उभयत्राप्येवम् ॥२३॥

दोनों में भी इसी प्रकार से॥२३॥

दोनों में इसी प्रकार से कहने का अभिप्राय यह है कि, यथा धर्म में अनुमान व शब्द प्रमाण हैं। तथा अधर्म में हैं दोनों में एक ही प्रकार से जानना चाहिये॥२३॥

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥२४॥

अर्थ से सिद्धि होवे तो दोनों का समान प्रमाण है॥२४॥

वेदविहित जे कर्म हैं उनके विरुद्ध कहने में जो अर्थ प्राप्त होता है

वह अधर्म है। इस प्रकार से अर्थात् जो धर्म नहीं है वह अधर्म है। अर्थापत्ति से अधर्म की सिद्धि होती है। अधर्म का प्रमाण नहीं है जो यह संशय हो तो इसके निवृत्त होने के अर्थ यह कहा है कि, दोनों का धर्म व अधर्म का समान प्रमाण है। अर्थात् श्रुति में दोनों का समान वर्णन है। यथा विधि में धर्म का वर्णन है तथा निषेध में अधर्म का वर्णन है। अर्थात् "परदारान्न गच्छेत्" अर्थ—परस्त्री में गमन न करे इत्यादि श्रुति वाक्य हैं।।२४।।

अंतःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ।।२५।।

धर्म आदिकों का अंतःकरणधर्मत्व है।।२५।।

धर्म आदि का अंतःकरणधर्मत्व है अर्थात् धर्म आदि अंतःकरण के धर्म हैं। अंतःकरण कार्य व कारणरूप से होता है। प्रकृति अंश विशेष जो अंतःकरण है उसमें धर्म अधर्म संस्कार आदिक प्रलय में रहते हैं।।२५।।

शंका—धर्म आदि अंतःकरण के धर्म होवें परंतु प्रकृति के कार्यों के विचित्र होने से व श्रुतिप्रमाण से धर्म आदि की सिद्धि जो कही है। यह अयुक्त है क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति व उसके कार्यों की श्रुति ही से बाधा होती है। श्रुति यह है, "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" अर्थ—साक्षी ज्ञानरूप केवल निर्गुण है तथा "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगंधवच्च" अर्थ—शब्दरहित स्पर्शरहित रूपरहित नाश रहित रसरहित नित्यगंध रहित है, आदि वाक्यों से प्रकृति गुण के नाश होने व न रहने का प्रमाण होता है। उत्तर—

गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ।।२६।।

गुणआदिक अत्यंत नाश नहीं है।।२६।।

गुण आदि का अर्थात् सत्त्व आदिका व उनके धर्म सुख आदिका व उनके कार्य महत्तत्त्व आदि का स्वरूप से नाश नहीं है। संसर्ग न रहने से चेतन में गुण आदि का नाश है। यथा लोहे के उष्ण होनेकी बाधा होती है। अर्थात् लोहे के उष्ण होने का नाश होता है।।२६।।

शंका—स्वप्न मनोरथ के तुल्य मिथ्या मानने में कैसे स्वरूप से नाश होना यथार्थ नहीं है? उत्तर—

पंचावयवयोगात् सुखादिसंवित्तिः ।।२७।।

पंच अवयवों के योग से सुख आदि की उपलब्धि अथवा सिद्धि होती है।।२७।।

न्याय के पांच अवयव हैं, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमन, इन पांचों अवयवों के योग से अर्थात् मेल से सुख आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की अनुमानद्वारा सिद्धि होती है। यथा सुख सत् है यह प्रतिज्ञा है किस हेतु से सत् है? अर्थ क्रियाकारी होने से यह हेतु है। जो जो अर्थ क्रियाकारी (प्रयोजन सिद्धिरूप क्रिया करनेवाला) होता है वह सत् होता है। जैसे 'चेतन पुरुष' यह उदाहरण है। सुख पुलकादिरूप अर्थ क्रियाकारी है'यह उपनयन है। 'इससे सुख सत् है' यह निगमन है। इस प्रकार से पांच अवयवों के योग से अनुमान द्वारा गुण आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का सर्वथा नाश होना सिद्ध नहीं होता कारणरूप से रहना सिद्ध होता है।।२७।।

अब नास्तिक जो प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण मानते हैं अन्य प्रमाण को व्याप्ति की सिद्धि न मानकर नहीं मानते उनकी यह शंका है-

न सकृद्ग्रहणात्सम्बंधसिद्धिः ।।२८।।

एकवार सहचार के ग्रहण से सम्बंध की सिद्धि नहीं होती।।२८।।

एकवार से सहचार के ग्रहण से सम्बंध (व्याप्ति) की सिद्धि नहीं होती वारम्वार की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि धूम व अग्नि को कहीं सार्थ होते देखकर सदा साथ ही होना नहीं मान सकते विना धूम भी अग्नि होता है नहीं कहीं हाथी अग्नि एक जगह देखकर फिर कभी हाथी देखकर अग्नि का होना अनुमान करना भी मानने योग्य होगा। इससे व्याप्ति ग्रहण के असंभव होने से अनुमान से अर्थ की सिद्धि नहीं है।।२८।।

अब इस अप्रत्यक्ष पदार्थ में व्याप्ति ग्रहण न होने की शंका निवारण व व्याप्ति अनुमान द्वारा अप्रत्यक्ष पदार्थों के सिद्ध करने के अर्थ सूत्रकार प्रथम व्याप्ति का लक्षण वर्णन करते हैं-

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ।।२९।।

नियत धर्मसहित होना दोनों का अथवा एक का व्याप्ति है।।२९।।

नियतधर्म सहित होना अर्थात् धर्मी के धर्म का उसके साथ[1] ही रहना सहचार है। दोनों का अर्थात् साध्य साधन का अथवा एक साधन मात्र का ही नियत धर्म अर्थात् व्यभिचार रहित सहचार है। वह व्याप्ति है दोनों का यह समव्याप्तिपक्ष में कहा है और नियम तर्क के साथ जो अनुकूल हो वह ग्रहण के योग्य है। नियत धर्म सहित होना व्याप्ति होने से व्याप्ति ग्रह है (व्याप्ति ग्रहण) असंभव नहीं है यह भाव है।।२९।।

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ।।३०।।

वस्तु की कल्पना का प्रसंग होने से तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) नहीं है।।३०।।

व्याप्ति का आश्रय जो वस्तु है उसकी भी कल्पना होने के प्रसंग से नियत धर्म सहित होने से भिन्न कोई पदार्थ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। अर्थात् जो वस्तु सिद्ध है। उसी की व्याप्ति होने मात्र की कल्पना की जाती है यह हमारा (ग्रंथकार का) मत है।।३०।।

अब अन्य आचार्यों का मत वर्णन करते हैं–

निजशक्त्युद्भवमित्यांचार्याः ।।३१।।

अपनी शक्ति से उत्पन्न व्याप्ति है कोई आचार्य यह मानते हैं।।३१।।

कोई आचार्य यह कहते हैं कि व्याप्य की निजशक्ति से उत्पन्न शक्ति विशेषरूप तत्त्वान्तर व्याप्ति है। परंतु निजशक्ति मात्र जब तक द्रव्य में

१–एक साधन मात्र का दृष्टांत कार्यद्रव्य में समझना चाहिये। क्योंकि साध्यकारण के साथ साधन कार्य का सम्बंध अवश्य होता है। क्योंकि कार्य बिना कारण के नहीं होता वा नहीं रहता है व कारण विना कार्य के रहता है व होता है। यथा धूम कार्य विना अग्नि के नहीं होता व अग्नि कारण विना धूम के रहता है व चकमक पत्थर आदि मे विना धूम के प्रकट होता है। तथा विना कार्य के कारण का होना व विना कारण के कार्य का न होना पृथिवी घट कनककुण्डल आदि दृष्टांतों से समझ लेना चाहिये। कार्य विना कारण न होने से कारण साध्य में कार्य साधन मात्र का सहचार है। दोनों का सहचार (साथ रहना) पृथिवी गंध आदि में जानना चाहिये। क्योंकि विना पृथिवी गंध नहीं होता व विना गंध पृथिवी नहीं होती इत्यादि।

स्थित है व्याप्ति नहीं है और उत्पन्न हुए का द्रव्य से वियोग हो जाने
दूरदेश में प्राप्त हो जाने पर भी व्याप्ति भाव नहीं रहता। यथा देशांत
में प्राप्त धूम की अग्नि से व्याप्य न होने से व देशान्तर में गमन से व
शक्ति नष्ट हो जाती है। इससे यह लक्षण यथार्थ नहीं है। हमने अप
लक्षण में नियत धर्म का साथ होना कहा है। इससे हमारे लक्षण
अनुसार उत्पत्तिकालावच्छिन्नता सहित धूम विशेषण के योग्य है
अर्थात् जिस काल में धूम अग्नि से उत्पन्न हो रहा है। अग्नि सम्बंध रहि
नहीं हुआ उस काल परिणाम युक्त ही धूम लक्षण में घटित होता
इससे दोष की प्राप्ति नहीं है।।३१।।

आधेयशक्तियोग इति पंचशिखः ।।३२।।

आधेयशक्ति का योग व्याप्ति है यह पंचशिख आचार्य मानते हैं।।३२।।

प्रकृति आदि का बुद्धि आदि में व्यापक होने व बुद्धि आदि के व्याप
होने के व्यवहार से प्रकृति आदि की आधारताशक्ति व्यापकता व बु
आदि की आधेयता शक्ति व्याप्यता है। आधेयशक्ति (व्याप्य होने
धर्म) का योग अर्थात् आधेय शक्तिमान् होना व्याप्ति है। तथा आधा
अग्नि में आधेय धूम होने की शक्ति का योग व्याप्ति है। यह पंचशि
आचार्य का मत है।।३२।।

शंका—व्याप्य वस्तु की स्वरूपशक्ति ही व्याप्ति है यह मानन
चाहिये। आधेयशक्ति के कल्पना करने का क्या प्रयोजन है? उत्तर—

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ।।३३।।

पुनर्वाद (पुनरुक्ति) के प्रसंग से स्वरूप शक्ति नियम (व्याप्ति) नहीं है।।३३।।

यथा घट (कलश) है यह कहने के तुल्य स्वरूपशक्ति कहने में व्याप
व व्याप्य के स्वरूप में अर्थभेद ज्ञान न होने से पुनर्वाद होने का प्रसं
होता है। इससे स्वरूप शब्द ग्रहण न करके व्याप्त में व्याप्य धर्मत
उपपादन (प्रतिपादन) के अर्थ शक्तिपद का ग्रहण किया है।।३३।।

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ।।३४।।

विशेषण के अनर्थक होने के प्रसंग से।।३४।।

व्याप्य का व्याप्य स्वरूप विशेषण कहना पुनर्वाद होने से अनर्थक है। अनर्थक होने के प्रसंग से स्वरूप शब्द को ग्रहण नहीं किया।।३४।।

अब अन्य दूषण कहते हैं—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ।।३५।।

पल्लव आदि में सिद्ध न होने से।।३५।।

पल्लव आदि वृक्ष आदि से व्याप्य हैं अर्थात् वृक्ष आदि व्यापक व पल्लव आदि व्याप्य हैं। पल्लव आदि व्याप्य में स्वरूपशक्ति मात्र कहना व्याप्ति का लक्षण संभव नहीं होता। क्योंकि पल्लव छिन्न हो जाने अर्थात् कट जाने पर भी पल्लवों के स्वरूप की शक्ति वृक्ष में रहने से व्याप्यता की सिद्ध होगी और आधेयशक्ति पल्लवों के कटने के समय में नष्ट होगी। इससे कट जाने पर व्याप्ति का अभाव।।३५।।

शंका—पंचशिख ने व्याप्य की शक्ति से उत्पन्न शक्तिविशेषरूप व्याप्ति है यह क्यों नहीं कहा? ऐसा नहीं कहा तो धूम के अग्नि के आधेय होने के अभाव से अग्नि का व्यापक व धूम का अग्नि से व्याप्य होना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् धूम की व्याप्यता सिद्ध नहीं होती उत्तर—

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ।।३६।।

आधेयशक्ति का व्याप्ति होना सिद्ध होने में समान न्याय (समान युक्ति होने) से निज शक्ति से उत्पन्न भी व्याप्ति रूप से सिद्ध है।।३६।।

जैसे भाव विशेष व युक्ति से आधेय शक्ति का व्याप्ति होना सिद्ध होता है। ऐसे ही निजशक्ति से उत्पन्न भी व्याप्ति होना सिद्ध होता है। नानाविध के सहचार रूप व्याप्तियों के होने से एक दूसरे के सदृश न होने में जैसे नाना अर्थ व शब्द होने में दोष नहीं है। दोष न समझना चाहिये अपने मत में भी नानाविध के सहचार ही अनेक व्याप्ति होना जानने के योग्य हैं। अनुमान के हेतु होने मात्र में व्याप्तियों की सामान्यता समझना चाहिये। यथा तृण, अरणि, मणि कार्यरूप हैं। परंतु एक दूसरे का परस्पर विजातीय होना सिद्ध होता है। अर्थात् कार्यत्वरूप परजाति से समान है व अपरजाति भेद से भिन्न हैं। इसी प्रकार से अनुमान हेतु होने मात्र से सहचारों की समानता व प्रकार भेद से वह

अनेक व विजातीय हैं। अनुमान प्रमाण के बाधक भ्रम दोष निवारण के अर्थ व व्याप्ति के निश्चित होने के अर्थ यह व्याप्ति का वर्णन किया गया है।।३६।।

अब उक्त पंच अवयवरूप शब्द का ज्ञान जनक (उत्पन्न करनेवाला) होना सिद्ध करने के प्रयोजन से शब्द शक्ति का प्रतिपादन व शब्द प्रमाण में विरुद्ध पक्षवालों के दूषणों का प्रतिषेध किया जाता है।।

वाच्यवाचकभावः सम्बंधःशब्दार्थयोः ।।३७।।

वाच्य वाच्यकभाव शब्द व अर्थ का सम्बंध है।।३७।।

अर्थ में वाच्यता शक्ति व शब्द में वाचकता शक्ति का भाव दोनों शब्द व अर्थ का सम्बंध है। इस सम्बंध के ज्ञान से शब्द से अर्थ का बोध होता है।।३७।।

शक्तिग्राहकों को वर्णन करते हैं–

त्रिभिस्सम्बंधसिद्धिः ।।३८।।

तीन से संबंध की सिद्धि है।।३८।।

आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपदसमानाधिकरण, इन तीनसे सम्बंध ग्रहण किया जाता है। ये तीन सम्बंध के सिद्ध होने के हेतु हैं।।३८।।

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ।।३९।।

दोनों प्रकार से देखने से कार्य में नियम नहीं है।।३९।।

शक्तिग्रह कार्य ही में होता है यह नियम नहीं है। क्योंकि लोक में कार्य के तुल्य अकार्य में भी वृद्धव्यवहार आदि देखने में आते हैं। यथा 'गौ लावो' इस कार्य पर वृद्धवाक्य से गौ ले आने का व्यवहार देखा जाता है। इसी प्रकार से 'तेरे पुत्र उत्पन्न हुवा' इत्यादि सिद्धिपदार्थ परवाक्य से पुलकादि होने का व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार से कार्य व अकार्य दोनों में शक्तिग्रह देखने से कार्य मात्र में नियम नहीं है।।३९।।

शंका–लोक में अर्थ व प्रत्यय आदि के देखने से सिद्ध पदार्थ में भी शक्तिग्रह होवे परंतु वेद में अकार्य बोधन के वृथा होने से कैसे अकार्य में शक्तिग्रह होगा? उत्तर–

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥४०॥

लोक में व्युत्पन्न को वेदार्थ की प्रतीति होती है॥४०॥

लोक में जो पुरुष शब्दशक्ति में व्युत्पन्न होता है। उसी को लोकानुसार वेद के अर्थ की प्रतीति होती है। लोक में शब्दशक्ति भिन्न हो व वेद में भिन्न हो ऐसा नहीं होता। इससे लोक में सिद्ध अर्थ पर शक्तिग्रह होना देखने से वेद में भी उसकी सिद्धि होती है॥४०॥

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥४१॥

आप्तोपदेश आदि तीन से वेद में शक्तिग्रह का होना वेद के अपौरुषेय होने से व वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने से संभव नहीं होता॥४१॥

जो किसी पुरुष से न कहा गया हो वह अपौरुषेय है। वेद किसी पुरुष से कथित सिद्ध न होने से अपौरुषेय है अपौरुषेय होने से आप्तोपदेश से वेदार्थ में शक्तिग्रह होना संभव नहीं होता। तथा वेदार्थ के अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) होने से वेदार्थ में वृद्धव्यवहार व प्रसिद्धपद समानाधिकरण होने का ग्रहण नहीं हो सकता॥४१॥

वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने के प्रतिषेध में प्रथम उत्तर वर्णन करते हैं–

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

नहीं प्रकृष्टफल करनेवाले होने से यज्ञ आदि के स्वरूप ही से धर्म होना विदित होता है॥४२॥

जो वेदार्थ का अतीन्द्रिय होना कहा है यह युक्त नहीं है। क्योंकि देवता उद्देश्यक द्रव्यत्याग आदिरूप यज्ञदान आदि का स्वरूप ही से धर्म होना वैशिष्ट्य से अर्थात् प्रकृष्टफल करनेवाले होने से विदित होता है। फलविशेष होने व इच्छा आदिरूप होने से यज्ञादिक अतीन्द्रिय नहीं हैं। जो यह कहा जाय कि, देवता आदि अतीन्द्रिय हैं तो अतीन्द्रियों में भी पदार्थ होने के धर्म से सामान्यरूप से प्रतीति होने का आगे वर्णन किये जाने से अतीन्द्रिय नहीं हैं॥४२॥

अपौरुषेय होने मे जो आप्त उपदेश का अभाव कहा है उसका उत्तर कहते हैं॥

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥

निजशक्ति व्युत्पत्ति द्वारा विभाग वा भेद सहित उपदेश की जाती है॥४३॥

अपौरुषेय होने में भी वेदों की जो निज अर्थात् स्वाभाविकी अर्थों में शक्ति है। वही परंपरा से आप्तपुरुषों करके इस शब्द का यह अर्थ है ऐसी व्युत्पत्ति द्वारा अर्थान्तर से पृथक् करके जो अर्थ जिस शब्द में नियत है। उसी से उपदेश की जाती है। आधुनिक शब्द के समान कोई आपसे संकेत नहीं करता जिससे पौरुषेय होने की अपेक्षा होवे॥४३॥

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥४४॥

योग्य व अयोग्यों में प्रतीति जनक (उत्पत्तिकर्त्ता) होने से उसकी सिद्धि है॥४४॥

योग्य व अयोग्यों में अर्थात् प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पदार्थों में सामान्य धर्म से साधारण से पदों का अर्थ में प्रतीतिजनक होना अनुभव से सिद्ध होने से उसकी अर्थात् शक्तिग्रह (अर्थ ग्रहणशक्ति) की सिद्धि है। परंतु जो सामान्य नहीं है ऐसा विशेष अतीन्द्रिय अपूर्ववाक्य है। उसका ग्रहण इस पूर्व वर्णन में न समझना चाहिये शब्दगत विशेष का वर्णन किया जाता है॥४३॥

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्व श्रुतेः ॥४५॥

कार्य होना श्रुतिप्रमाण से सिद्ध होने से वेदों की नित्यता नहीं है॥४५॥

"स तपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तपनात् त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यदि। अर्थ–उसने तप किया उस तप करने से तीन वेद उत्पन्न हुए इत्यादि श्रुति से वेद का कार्य होना नित्य न होना विदित होता है॥४५॥

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

उनके कर्ता पुरुष के अभाव से पौरुषेय नहीं है॥४६॥

बहुत मनुष्य यह मानते हैं कि, वेद का कर्ता पुरुष ईश्वर है। इस शास्त्र में शास्त्रकार पुरुष को अकर्ता माना है। इसी से मुक्तरूप ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व के सिद्ध होने का प्रतिषेध किया है। कर्तृत्व के अभाव से

ईश्वर वेद का कर्ता नहीं हो सकता व कर्ताभाव से ईश्वर का अभाव है। इससे इस सूत्र में कहा है कि, उनके (वेदों के) कर्ता पुरुष ईश्वर के अभाव से अर्थात् कर्तृत्व के अभाव से वेद पौरुषेय नहीं हैं। अर्थात् ईश्वरकृत नहीं हैं किस हेतु से कर्ता पुरुष का अभाव है वह हेतु आगे सूत्र में वर्णन करते हैं।।४६।।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ।।४७।।

मुक्त व अमुक्त दोनों के योग्य न होने से।।४७।।

मुक्त वा अमुक्त दोनों होने में वेद के निर्माण में योग्य नहीं हो सकता मुक्त होने में सर्वज्ञ होने पर भी रागरहित होने से सहस्र शाखा वेद के निर्माण में अयोग्य है। मुक्त न होने में अज्ञान सर्वज्ञ न होने से अयोग्य है। इससे ईश्वर के वेद कर्ता न होने से वेद अपौरुषेय है।।४७।।

जो ऐसा समझा जावे कि अपौरुषेय होने से वेद नित्य स्वतःसिद्ध है। तो अपौरुषेय होने से नित्य होना सिद्ध नहीं होता इसका दृष्टांत आगे सूत्र में वर्णन करते हैं–

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ।।४८।।

अपौरुषेय होने से अंकुर आदि के तुल्य नित्य होना सिद्ध नहीं होता।।४८।।

यथा अंकुर आदि अपौरुषेय नित्य नहीं हैं तथा वेद भी नित्य नहीं हो सकता।।४८।।

शंका–अंकुर के कार्यरूप होने से घट के सदृश पौरुषेय होने का अनुमान किया जावे? उत्तर–

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ।।४९।।

उनका भी उसके साथ योग होने में दृष्ट की बाधा होने का प्रसंग।।४९।।

उनका उक्त अंकुर आदि का उसके साथ होने में अर्थात् पौरुषेय होने के योग में दृष्ट की बाधा होने का प्रसंग है। भाव इसका यह है कि, जो पौरुषेय है वह शरीरजन्य (शरीर से उत्पन्न होने के योग्य) है। यह व्यापि लोक में दृष्ट है अर्थात् प्रत्यक्ष से सिद्ध है अंकुर आदि में ऐसा

होना दृष्ट नहीं है। इससे दृष्ट व्याप्ति की बाधा होने का प्रसंग होगा॥४९॥

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥५०॥

जिस अदृष्ट में भी कृत होने की बुद्धि उत्पन्न होती है वह पौरुषेय है॥५०॥

दृष्ट के समान अदृष्ट में भी जिस वस्तु में कर्ता करके बुद्धिपूर्वक कृत होने की बुद्धि उत्पन्न होती है। वह पौरुषेय है अर्थात् वही पौरुषेय कहा जाता है। अभिप्राय इसका यह है कि यद्यपि नित्य ईश्वर जो वेद का कर्ता पुरुष माना जाता है। वह वेद का कर्ता युक्ति से सिद्ध न हो व प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो तथापि वेद में कृत होने की बुद्धि होने से वेद को आदि पुरुष वा ब्रह्मा से उक्त होने से पौरुषेय मानना चाहिये। इस हेतु से कि यथा दृष्टपदार्थ कोई मन्दिर को उत्तम रचना चित्रकारी संयुक्त देखने व उसमें भोग्यपदार्थ शय्या भोजन वस्त्र आदि पदार्थ देखने से कर्ता को करते व धरते हुये न देखने पर भी चेतन कर्ता से बुद्धिपूर्वक कृत होने की बुद्धि होती है। इसी प्रकार से वेद में धर्म अधर्म आदि उत्तम उपदेश विधि निषेध होने से किसी बुद्धिमान् पुरुष से बुद्धिपूर्वक कृत होने के अनुमान से पौरुषेय होने का बोध होता है। कोई इस सूत्र का अर्थ इसके विरुद्ध वर्णन करते हैं वेद को सर्वथा अपौरुषेय स्वतः सुषुप्त के श्वास के निकसने के सदृश आदिपुरुष के श्वास से उत्पन्न मानते हैं। परंतु यह सर्वथा अयुक्त व असंभव कथन है क्योंकि किसी प्रमाण से विना चेतन ज्ञानवान् जड़ शब्द का आपसे वाक्य रचना करना व यथोचित तत्त्वार्थ प्रतिपादन करना संभव नहीं हो सकता॥५०॥

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥५१॥

निजशक्ति की प्रकटता से स्वतः प्रामाण्य है॥५१॥

जो यह शंका हो कि, आप्तवाक्य में आप्त के विश्वास मात्र से जो पदार्थ अपने को निश्चित नहीं होता व उसका प्रत्यक्ष नहीं होता उसका भी प्रामाण्य मान लिया जाता है। ऐसा ही वेद का प्रामाण्य है। अपने को यथार्थ होने का निश्चय नहीं हो सकता इस शंका निवारण के अर्थ व यह

सूचित करने के अर्थ–कि, आप्त के विश्वास ही से वेद का प्रमाण्य नहीं है वेद की शब्दशक्ति ही से जो अर्थ प्रतीत है। उससे स्वतः वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सूत्र में यह कहा है कि, निजशक्ति अर्थात् वेदों के अपने शब्दशक्ति से जो अर्थ सत्यता की प्रतीति है। उसकी प्रकटता से अर्थात् मंत्र व आयुर्वेद आदि में उसके प्रकट होने से सम्पूर्ण वेदों का प्रामाण्य आप ही से सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि, मंत्र व आयुर्वेद में जैसा कथित है। उस प्रकार से करने से मंत्र व ओषध का फल सिद्ध होने से वेद के शब्दार्थ ही से वेदों का आप ही सत्य होने व प्रमाण योग्य होने का निश्चय होता है। गुण आदिकों का अत्यंत नाश नहीं है। यह जो प्रतिज्ञा है इस प्रतिज्ञा में सुख आदि सिद्ध करने के लिये अनुमिति के उपयोगी पंच अवयवों व पंच अवयवों के शब्दरूप होने से शब्दप्रमाण का वर्णन किया।।५१।।

अब गुण आदिकों को अन्ययुक्ति से सिद्ध करने में अन्य हेतु को वर्णन करते हैं–

नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ।।५२।।

मनुष्य के सींग के समान असत् का ज्ञान होना संभव नहीं होता।।५२।।

ज्ञानमात्र से व पंच अवयवद्वारा अनुमान से जो सुख आदि सिद्ध होते हैं। जिनका वर्णन किया गया है वे सत् होने ही से ज्ञान से सिद्ध होते हैं। जो अत्यंत असत् है उसका ज्ञान होना संभव नही होता यथा असत् मनुष्य के सींग का ज्ञान नहीं होता प्रमाण से सिद्ध होने से सुख आदि गुण सत् हैं।।५२।।

अब पूर्वपक्ष यह है कि, यद्यपि गुण आदि का सत् होना अंगीकार किया जाय तथापि गुण आदिकों का अत्यंत बाध नहीं है। यह कहना मिथ्या है। मिथ्या होने का हेतु वर्णन करते हैं–

न सतो बाधदर्शनात् ।।५३।।

नाश देखने से सत् नहीं हैं।।५३।।

विनाशकाल में गुण आदि का नाश होना देखने से गुण आदि अत्यंत

सत् भी नहीं हैं।।५३।।

जो यह समझा जावे कि, सत् व असत् से भिन्न जगत् माना जाय तो जो कहीं सत् व कहीं असत् होने का भ्रम होता है। यह न होवे विलक्षण होने से सत् व असत् दोनों मानना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है–

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ।।५४।।

अनिर्वचनीय का भाव नहीं होता उसके अभाव से।।५४।।

उसके अभाव से अर्थात् सत् असत् से भिन्न वस्तु होने के अभाव से अर्थात् ऐसा पदार्थ जो प्रमाण से सिद्ध नहीं है अप्रसिद्ध है। ऐसे अनिर्वचनीय का भाव नहीं होता सत् असत् से भिन्न होना व वही सत् व वही असत् समकाल व अवस्था में होना दोनों असंभव हैं। इससे ऐसा मानना अयुक्त है।।५४।।

नान्यथा ख्यातिः स्ववचोव्याघातत् ।।५५।।

अपने वचन के व्याघात से अन्यथा ख्याति नहीं है।।५५।।

जो यह कहा जावे कि, अन्यपदार्थ अन्य रूप से भासित होता है तो यह अपने ही वचन का व्याघात है कि, शब्द से अन्यथा कहता है व भाव उसका अन्यथा कहता है और अन्य में अन्यस्वरूप होना भी मनुष्य के सींग की तुल्य मिथ्या है। इससे अन्य वस्तु का अन्यरूप से भासित होना कहना भी असंगत है।।५५।।

अब अत्यंत बाध (नाश) न होने में अपना सिद्धांत वर्णन करते हैं–

सदसत्ख्यातिबाधाबाधात् ।।५६।।

सत् असत् ख्याति (कथन) बाध व अबाध होने से।।५६।।

प्रतिपन्न धर्मी में निषेधबुद्धि विषय होने को बाध कहते हैं सत् व असत् कहना बाध व अबाध से होता है। सब वस्तुओं (पदार्थों) के नित्य होने से स्वरूप से गुणों का बाध नहीं है। इससे सत् हैं व संसर्ग से सब वस्तुओं का चैतन्य में बाध है। अर्थात् जब ज्ञान से बाह्य होते हैं बुद्धिगत नहीं होते ज्ञान संसर्गरहित होते हैं तब नष्ट सदृश ज्ञात होते हैं। इससे असत् हैं यथा पट आदि में अरुणरूप आदि जब तक पट में दृष्ट होते हैं सत् विदित होते हैं। पट से दूर हो जाने में नष्ट समझे जाते हैं।

परंतु स्वरूप से उनका नाश सर्वथा नहीं होता इसी प्रकार से अवस्था भेद से कालांतर में गुणों का परिणाम मात्र होता है। अत्यंत बाध नहीं होता सत् असत् दोनों विरुद्ध हैं। इससे दोनों का होना कहना यथार्थ नहीं है जो यह संशय हो तो प्रकार भेद होने से विरोध नहीं होता यथा तत्त्व रूप से जो चांदी है वह अपने रूप से सत् है। परंतु सीप में जो चांदी का बोध होता है उसमें भ्रम से सत्य के सदृश बोध होने से असत् है। इसी प्रकार से जगत् प्रकृति कार्यरूप अपने स्वरूप से सत् है चैतन्य आदि में अध्यस्तरूप असत् है। इस प्रकार से प्रकृति सत् असत् स्वरूप है।।५६।।

यह सत् असत् पदार्थ का निरूपण करके फिर शब्द विषय में विशेष विचार करते हैं।।

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ।।५७।।

प्रतीति व अप्रतीति दोनों होने से शब्द स्फोटात्मक नहीं है।।५७।।

प्रत्येक वर्णों से भिन्न कलश इत्यादि रूप अखण्ड एक पद वर्णों के संयोग से माना जाता है कलश आदि विशेष शब्द जिस अर्थ के वाचक होते हैं। उस अर्थ के बोध को स्फुट (प्रकट) करते हैं। शब्द से अर्थ ज्ञान के प्रकट होने वा प्रतीत होने को स्फोट कहते हैं शब्द से यह स्फोट होता है। इससे शब्द को स्फोटात्मक कहते हैं। इस स्फोट के प्रतिषेध में यह कहा है कि, शब्द को जो स्फोटात्मक मानते हैं। उनका मत सत् नहीं है शब्द स्फोटात्मक नहीं है। क्यों नहीं है? प्रतीति अप्रतीति अर्थात् शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है और नहीं भी होती प्रथम जिसको इस स्फोट का ज्ञान हो गया है कि, ये विशेष शब्द इन विशिष्ट अर्थों के वाचक हैं। उसी को अर्थ का बोध होता है जिसको स्फोट का ज्ञान नहीं है उसको शब्द विशेष से अर्थ विशेष का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् उसको अर्थ बोध कराने की शब्दों में स्वतः (आपसे) शक्ति नहीं है इससे शब्द में स्फोट कल्पना व्यर्थ है।।५७।।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ।।५८।।

कार्य होने की प्रतीति से शब्द की नित्यता नहीं है।।५८।।

शब्द उत्पन्न होता है व नष्ट होता है इससे कार्य है कार्य होने की

प्रतीति से शब्द नित्य नहीं है। इस हेतु से कि, गकार का उच्चारण सुनकर यह प्रत्यभिज्ञान होता है कि, यह वही अक्षर गकार जो पूर्व ही सुना था। अथवा जिसको पूर्व ही गकार मानते थे शब्द को नित्य मानना युक्त नहीं है। उत्पन्न गकार बोध होने से अनित्य हैं। पूर्वगकारके सजातीय होने से प्रत्यभिज्ञान का होना सिद्ध होता है। वही एक ही होना सिद्ध नहीं होता अन्यथा घट आदिकों की भी प्रत्यभिज्ञा होने से नित्य मानना होगा।।५८।।

पूर्वसत्त्वस्याभिव्यक्तिदीपेनेव घटस्य ।।५९।।

दीप से घट के समान पूर्व सिद्ध सत्त्व की प्रकटता है।।५९।।

जो शब्द सत्तारूप से पूर्व ही से सिद्ध है वह धुनि से केवल प्रकट होता है। यही उत्पन्न होता है यथा–'घटसत्ता' अर्थात् घट का होना पूर्व ही सिद्ध होने पर भी जब अंधकार से दृष्ट नहीं होता तब घट नहीं है। ऐसा विदित होता है दीपके प्रकाश से उसकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) होती है। इसी प्रकार से पूर्व सिद्ध शब्द की उच्चारण से अभिव्यक्ति होती है।।५९।।

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् ।।६०।।

सत्कार्यसिद्धांत होवे तो सिद्धसाधन है।।६०।।

अनागत अवस्था को छोड़कर जो वर्तमान अवस्था का लाभ करना अभिव्यक्ति अंगीकार की जावे तो सत्कार्य सिद्धांत है। अर्थात् कार्य के सदा सत् होने का सिद्धांत है। ऐसी नित्यता सब कार्यों की है सब कार्यों की नित्यता होने में सिद्ध साधन दोष होगा और जो यह माना जाय कि, वर्तमान ही रूप से सत् है ज्ञान मात्र होना अभिव्यक्ति है तो घट आदिकों की भी नित्यता सिद्ध होगी। इससे घट आदि के तुल्य कार्यरूप शब्द अनित्य है।।६०।।

अब आत्मा के अद्वैत माननेवालों के मत का प्रतिषेध करते हैं–

नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः ।।६१।।

आत्मा के लिंग (लक्षण) से उसके (आत्मा के) भेद की प्रतीति होने से अद्वैत नहीं है।।६१।।

यद्यपि यथा आत्मा के भेद लिंग (लक्षण) में श्रुति वाक्य हैं। तथा अभेद वाक्य भी हैं तथापि अजा वाक्य में जिसमें यह वर्णन किया है कि, एक पुरुष प्रकृति को भोग करता है व दूसरा विवेक को प्राप्त वैराग्य से प्रकृति को त्याग करता है। त्याग आदि लिंग (लक्षण) से आत्मा के भेद ही होने की सिद्धि होती है। अद्वैत वाक्य साधर्म्य होने व वैधर्म्य न होने से एकता प्रतिपादन पर है। अत्यंत अभेद प्रतिपादक नहीं है अत्यंत अभेद में एक का त्याग करना अन्य का त्याग न करना यह भेद होना संभव नहीं हो सकता इससे अद्वैत नहीं है॥६१॥

श्रुति प्रमाण से भेद होना वर्णन करके प्रत्यक्ष भी अद्वैत होने का बाधक है यह वर्णन करते हैं–

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥६२॥

अनात्मा से कभी प्रत्यक्ष बाधा होने से अद्वैत नहीं है॥६२॥

अनात्मा से अर्थात् भोग्य प्रपंच से प्रत्यक्ष से बोध होने से आत्मा का अद्वैत होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि एक आत्मा में अनेक प्रकार के भोग होना सिद्ध नहीं हो सकते और आत्मा के भोग्यों में भेद न होने में घट पट आदि का भी अभेद होना सिद्ध होगा॥६२॥

नोभाभ्यां तेनैव ॥६३॥

उक्त हेतु ही से दोनों से अद्वैत नहीं है॥६३॥

उक्त हेतु ही से अर्थात् प्रत्यक्ष बाध ही से आत्मा व अनात्मा दोनों से अद्वैत होना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् अनेक प्रकार के भोग्यों का भोग एक ही आत्मा में होना। अथवा एक आत्मा का अनेक प्रकार के भोग एक दूसरे के विरुद्ध इष्ट अनिष्ट रूप का ग्रहण करना दोनों असंभव प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। अथवा दोनों पूर्वोक्त हेतुओं से आत्मा व अनात्मा से अद्वैत सिद्ध नहीं होता॥६३॥

शंका–"आत्मैवेदं सर्वम्" तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थ–आत्मा ही यह सब है। तथा निश्चय करके यह सब ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियों के द्वैत के विरुद्ध होने का क्या हेतु है? उत्तर–

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ।।६४।।

तिसमें (अद्वैत में) अविवेकियों के प्रति अन्यपरत्व अर्थात् उपासनार्थक अनुवाद है।।६४।।

लोक में शरीर शरीरी व भोक्ता भोग्य में अविवेक से अभेद व्यवहार करते हैं। यथा 'मैं गोरा हूं' यद्यपि गोरा होना देह का धर्म है आत्मा का नहीं तथापि अविवेक से अभेद व्यवहार करते हैं। इससे उसी प्रकार के व्यवहार को कहकर उन अविवेकियों प्रति सत्वशुद्धि आदि के अर्थ स्तुति उपासना का विधान करती है और इसी से परमार्थ दशा में उपास्यों के आत्मा होने का श्रुति प्रतिषेध करती है। यथा श्रुति में कहा है "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" अर्थ–जो मन से नहीं जानता अर्थात् विना मनद्वारा सब जानता है। जिससे मन जाना गया ऐसा कहते हैं उसी को तू ब्रह्म जान न इसको जिसकी उपासना करता है इत्यादि।।६४।।

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ।।६५।।

न आत्मा व अविद्या न दोनों निःसंग होने से जगत् के उपादान कारण नहीं हैं।।६५।।

आत्मा व आत्मा में आश्रित अविद्या अथवा दोनों निःसंग होने से अर्थात् आत्मा के संग रहित होने से जगत् के उपादान कारण नहीं हैं। क्योंकि संग ही से द्रव्यों का विकार होता है इससे केवल अद्वितीय आत्मा का असंग होने से उपादान होना संभव नहीं होता। न अविद्या द्वारा उपादान होना संभव होता है। क्योंकि अविद्या के योग होने का पूर्व ही निषेध किया गया है।।६५।।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।।६६।।

दोनों में भेद होने से आनन्द व चैतन्य (ज्ञान) दोनों रूप होना एक का धर्म नहीं है।।६६।।

ब्रह्म को श्रुति में आनन्दरूप भी वर्णन किया है यथा "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" अर्थ–सत्य विज्ञानरूप आनन्दरूप ब्रह्म इससे आनन्दरूप ब्रह्म के होने के प्रतिषेध से व श्रुति से आनन्दरूप होने का जो

भ्रम होता है। उसके निवारण के अर्थ सूत्र में यह कहा है कि, आनन्द व चैतन्य दोनों एक ही धर्मी के धर्म होना संभव नहीं होते। क्योंकि जिस काल में दुःख का ज्ञान होता है उस काल में सुख के अनुभव न होने से ज्ञान सुख का भेद सिद्ध होता है। यह समझा जावे कि, ज्ञान विशेष सुख है तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप जो ज्ञान है। वह अखण्ड है इसी से चैतन्य के अनुभव काल में सुख का आवरण भी नहीं कहा जा सकता। अखण्ड होने से आनन्द का आवरण होना संभव न होने से मैं दुःख को जानता हूँ, यह अनुभव होना असंभव है। आत्मा में अंश भेद नहीं है कि, जिस अंश में आनन्द का आवरण होता है। उसमें भी चैतन्य अंश माना जाय व श्रुति भी आत्मा को दुःख सुखरहित वर्णन करती है यथा "नानंदं न निरानन्दम्" इत्यादि। अर्थ—न आनन्दरूप है न आनन्द रहित है इत्यादि इससे आनन्द आत्मा का गुण नहीं है दुःख सुख प्रकृति कार्य का धर्म है॥६६॥

शंका—आनन्दरूप प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का यथार्थ होना किस प्रकार से माना जायगा? उत्तर—

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६७॥

दुःखनिवृत्ति से गौण है॥६७॥

औपाधिक दुःख की निवृत्ति से जो आत्मा सुखरूप कहा जाता है। इस भाव से आनन्द शब्द गौण श्रुति में कहा है श्रुति औपाधिक आनन्द पर है॥६७॥

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६८॥

मन्दों के अर्थ विमुक्ति की प्रशंसा है॥६८॥

मन्द जो अज्ञानी हैं उनकी रुचि बढ़ाने के लिये दुःखनिवृत्तिरूप सुखमय आत्मस्वरूप मुक्ति की श्रुति अज्ञानियों प्रति प्रशंसा करती है॥६८॥

मन के व्यापक न होने का हेतु वर्णन करते हैं—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥६९॥

करण होने अथवा इन्द्रिय होने से मन का व्यापक होना सिद्ध नहीं है॥६९॥

मन अंतःकरण होने से जैसे अन्य करण व्यापक नहीं होते व्यापक नहीं है। अथवा ज्ञान व कर्म इन्द्रियों से भिन्न अंतःकरण रूप इन्द्रिय विशेष देह मात्र में दुःख सुख व इन्द्रिय विषयों का ग्राहक होने से मन का मध्यमपरिमाण होना संभव होता है विभु होना सिद्ध नहीं होता।।६९।।

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ।।७०।।

गति सुनने से क्रिया संयुक्त होने से।।७०।।

आत्मा का लोकांतर में गमन सुनने से अथवा आत्मा के गमन आगमन वर्णन में श्रुति प्रमाण होने से आत्म उपाधिभूत अंतःकरण का क्रिया संयुक्त होना सिद्ध होने से मन का विभु (व्यापक) होना संभव नहीं होता। क्योंकि विभु आत्मा में स्वाभाविक गमन होना सिद्ध नहीं होता।।७०।।

मन के निरवयव होने का प्रतिषेध करते हैं—

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ।।७१।।

उनके संयोग होने से घट के समान भागरहित (निरवयव) नहीं है।।७१।।

उनके अर्थात् इंद्रियों के साथ मन का योग होने से मन घट के समान निरवयव नहीं है। अर्थात् यथा घट मध्यमपरिमाणयुक्त व सावयव है उसमें अनेक अवयवों का संयोग है। इसी प्रकार से मन का अनेक इंद्रियों के साथ संयोग होने से मन का निरवयव होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि निरवयव का इंद्रियों के साथ संयोग नहीं हो सकता संयोग वियोग सावयव में होता है।।७१।।

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् ।।७२।।

प्रकृति पुरुष से अन्य सब अनित्य है।।७२।।

कारणरूप प्रकृति व चेतन पुरुष ये दो नित्य है और सब कार्यरूप पदार्थ अनित्य हैं।।७२।।

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ।।७३।।

श्रुतिप्रमाण से भोगी के भोगरहित होने से भोगी के भाग होने की सिद्धि नहीं होती।।७३।।

भोगी (पुरुष) के भाग (अवयव) होने की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि श्रुति में पुरुष को भागरहित कहा है श्रुति यह है "निष्कलं निष्क्रयं शांतं निरवद्यं निरंजनम्" अर्थ–अवयव वा अंशरहित क्रिया-रहित शांत निर्दोष मायारहित है। जो श्रुति सावयव कहा है उसका अभिप्राय उपाधिवश से आकाश जल के तुल्य सावयव व क्रियारहित होना है।।७३।।

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ।।७४।।

धर्मरहित होने से आनन्द की अभिव्यक्ति मुक्ति नहीं है।।७४।।

आत्मा में आनन्दरूप व अभिव्यक्तिरूप धर्म नहीं है आत्मा अपने स्वरूप ज्ञान रूप पात्र से नित्य है। इससे आनन्द की अभिव्यक्ति (प्रकटता) मोक्ष नहीं है।।७४।।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ।।७५।।

उसी प्रकार से विशेषगुणों का नाश मोक्ष नहीं है।।७५।।

आत्मा के धर्मरहित होने से यथा आनन्द की अभिव्यक्ति मोक्ष नहीं है। तथा अशेष विशेष गुणों का नाश अथवा विशेष गुणों से रहित होना भी मोक्ष नहीं है। जो यह संशय हो कि, ऐसा मानने में दु:ख की निवृत्ति का भी मोक्ष होना संभव न होगा व दु:ख का अभाव भी धर्म ही है। तो इसका समाधान यह है कि, भोग्यता सम्बंध ही से जो दु:ख है। उसके अभाव को हम पुरुषार्थता (मोक्ष) मानते हैं पुरुष में स्वाभाविक दु:ख सम्बंध व उसकी निवृत्ति को नहीं मानते।।७५।।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ।।७६।।

क्रियारहित की विशेष गति नहीं है।।७६।।

ब्रह्मलोक आदि को जाना भी मोक्ष नहीं है क्योंकि क्रियारहित आत्मा में गति का अभाव है। लिंगशरीर से गमन मानने व लिंग शरीर अंगीकार करने ही से मोक्ष का होना घटित नहीं होता।।७६।।

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ।।७७।।

क्षणिक होने आदि के दोष से आकार के उपराग का नाश मोक्ष नहीं है।।७७।।

कोई नास्तिक यह मानते हैं कि, क्षणिक ज्ञान ही आत्मा है उसका विषयाकार होना बंध है। उस विषयाकार की वासनारूप जो राग है उसका नाश मोक्ष है। इसके प्रतिषेध में सूत्र में यह कहा है कि, क्षणिक ज्ञान मात्र मानना युक्त नहीं है। क्योंकि क्षणिक होने आदि के दोष से मोक्ष का भी पुरुषार्थ होना सिद्ध नहीं होता।।७७।।

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ।।७८।।

पुरुषार्थ न होना आदि दोष होने से सर्व नाश होना मोक्ष नहीं है।।७८।।

जो नास्तिक आत्मा का सर्वथा नाश होना मानते हैं और आत्मा का नाश होना ही मोक्ष मानते हैं। उनके मत के दूषण में यह कहा है कि, आत्मा के समग्ररूप से नाश होने अथवा सबके नाश होने में आत्मा के भी नाश होने में पुरुषार्थरूप मोक्ष होना संभव नहीं है। लोक में नष्ट हुए आत्मा का पुरुषार्थ होना देखने में नहीं आता। इससे पुरुषार्थ न होने के दोष से मोक्ष असंभव है।।७८।।

एवं शून्यमपि ।।७९।।

इसी प्रकार से शून्य भी।।७९।।

इसी प्रकार से ज्ञान में ज्ञेयात्मक अखिल प्रपंच के नाश होने में भी आत्मा के नाश होने से शून्य भी पुरुषार्थ सिद्ध न होने से मोक्ष नहीं है।।७९।।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ।।८०।।

सब संयोग वियोग के अंततक होते हैं इससे देश आदिलाभ भी मोक्ष नहीं है।।८०।।

अति उच्च उत्तम लोक देश धन सुन्दर स्त्री आदिकों के (स्वामी) होने से भी मोक्ष नहीं है। इस हेतु से कि, सब संयोग वियोग के अंत तक अर्थात् मरणतक अथवा अपने नाश होने तक रहते हैं। विनाशी होने से उनका स्वामी होना मोक्ष नहीं है।।८०।।

न भागियोगो भागस्य ।।८१।।

अंशी अंश का योग मोक्ष नहीं है।।८१।।

जो जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं और ईश्वर में योग (मेल) होना मोक्ष मानते हैं उनके इस मत के प्रतिषेध में यह कहा है कि, भाग (अंश) रूप जीव का भागी (अंशी) परमात्मा में योग होना अथवा लय होना मोक्ष नहीं है। इस हेतु से कि योग का वियोग होता है। वियोग होने से अनित्य है अनित्य होने से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता अपने में लय होना पुरुषार्थ नहीं है इससे मोक्ष नहीं है॥८१॥

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्त-
दुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥८२॥

अणिमा आदि का योग भी अन्ययोग के तुल्य उसका नाश अवश्य होनहार होने से मोक्ष नहीं है॥८२॥

अणिमा आदि जो अष्ट सिद्धि हैं उनका योग होना अर्थात् उनका प्राप्त होना भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि अन्य योग के समान अणिमा आदिके योग का भी वियोग अवश्य होगा वियोग होने से अर्थात् नाश होने से पुरुषार्थ नहीं है॥८२॥

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥८३॥

तथा इन्द्र आदि के पद का योग भी मोक्ष नहीं है॥८३॥

तथा अर्थात् अणिमादि के योग के समान इन्द्र आदि के पद का योग अर्थात् प्राप्त होना भी मोक्ष नहीं है। नाशवान् अनित्य होने से पुरुषार्थ नहीं है॥८३॥

पूर्व ही इन्द्रियों को आहंकारिक कहा है उसके विरुद्ध जो इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं। उनके मत का अर्थात् इंद्रियों के भौतिक होने का प्रतिषेध करते हैं॥

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥८४॥

इन्द्रियों के आहंकारिक होने में श्रुतिप्रमाण होने से इन्द्रियों का भूत प्रकृति होना अर्थात् भौतिक होना सिद्ध नहीं होता॥८४॥

सुगम है व पूर्व ही इसका व्याख्यान किया है॥८४॥

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥८५॥

षट्पदार्थ का नियम व उनके बोध से मुक्ति नहीं है॥८५॥

वैशेषिक जो यह मानते हैं कि, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय, ये छः पदार्थ हैं व इनके ज्ञान से मुक्ति होती है। वे अप्रामाणिक हैं प्रकृति आदि अधिक पदार्थ हैं जिनका पदार्थज्ञान होना उचित है। यद्यपि षट्पदार्थ में प्रकृतिकार्यों का वर्णन किया है परंतु कारण प्रकृति का जिसमें साम्यावस्था में पृथ्वी आदि के समान गंध आदि गुण नहीं होते वर्णन नहीं किया तथा शक्ति का वर्णन नहीं किया इससे षट्पदार्थ का मानना यथार्थ नहीं है।।८५।।

षोडशादिष्वप्येवम् ।।८६।।

इसी प्रकार से षोडश आदि में।।८६।।

नैयायिक जो षोडशपदार्थ व उनके तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते हैं। यह भी षट्पदार्थ के तुल्य अप्रामाणिक हैं अर्थात् षोडश पदार्थ मात्र होने का नियम नहीं है। षोडश पदार्थ से अधिक पदार्थ हैं इसी से इस शास्त्र में पचीस तत्त्व कहे गये हैं व पचीस ही द्रव्य के अन्तर्गत गुण कर्म आदि भी जानना चाहिये।।८६।।

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ।।८७।।

अणु की नित्यता उसके कार्यत्व प्रतिपादक श्रुति होने से नहीं है अर्थात् सिद्धि नहीं होती।।८७।।

श्रुतिप्रमाण से अणु का कार्य होना सिद्ध होता है कार्य नित्य नहीं होता विनाशी होता है। इससे अणु अर्थात् परमाणु नित्य नहीं है जो परमाणु को नित्य मानते हैं उनका नित्य मानना यथार्थ नहीं है। यद्यपि अणु के कार्य होने में जो श्रुति है वह बहुत वेद की शाखाओं को लुप्त हो जाने से इस काल में देखने में नहीं आई तथापि आचार्य वाक्य से व मनुस्मृति के प्रमाण से मानने के योग्य है। मनुस्मृति में यह कहा है "अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्धानां च याः स्मृताः ।। ताभिस्सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः" अर्थ–देश के आधे पांच के अर्थात् पृथ्वी आदि पांच भूतों के जो अणु मात्रा विनाश होनेवाली हैं। उनके सहित यह सब जगत् पूर्वसृष्टि के सदृश उत्पन्न होता है। अणु शब्द यहां परमाणु वाचक है परंतु जहां तक अणु होने का व्यवहार है वहाँ तक कुछ आकार

परिमाण होना संभव होने से कार्य होने व नाशवान् होने का अनुमान होता है। इससे अतिसूक्ष्म कारण सत्तामात्र प्रकृति ही का नित्य मानना उचित है।।८७।।

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ।।८८।।

कार्य होने से भागरहित होना सिद्ध नहीं होता।।८८।।

श्रुति प्रमाण से अणु के कार्य होने से अणु का भाग रहित (निरवयव) होना सिद्ध नहीं होता। इससे निरवयव मानना युक्त नहीं है।।८८।।

न रूपनिबंधनात् प्रत्यक्षनियमः ।।८९।।

रूप निमित्त से प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं है।।८९।।

रूप ही के निमित्त से प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं है। धर्म आदि से भी साक्षात्कार होना संभव होता है। अर्थात् स्थूलद्रव्यों का बाह्य इंद्रियों से प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म का अन्तर इंद्रियद्वारा धर्म आदि से प्रत्यक्ष होता है अर्थात् साक्षात्कार होता है।।८९।।

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ।।९०।।

परिमाण चार प्रकार का नहीं है दो से उनके योग होने से।।९०।।

अणु, महत्, ह्रस्व दीर्घ से चार परिमाण कहे जाते हैं। परंतु दो ही करके अर्थात् अणु महत् दो के साथ उनके अर्थात् चारों के योग होने से परिमाण चार नही हैं दीर्घ महत् का अन्तर्गत व ह्रस्व अणु के अन्तर्गत मानने से दो ही परिमाण हैं।।९०।।

सामान्य द्वारा पुरुष की ऐक्यता व प्रकृति की ऐक्यता का ज्ञान होता है इससे सामान्य को वर्णन करते हैं–

अनित्यत्वेऽपि स्थिरता योगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ।।९१।।

अनित्य होने में भी स्थिरता को योग से सामान्य का प्रत्यभिज्ञान होता है।।९१।।

व्यक्तियों के अनित्य होने में भी 'यह वही घट है' स्थिरता योग से ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान (स्मरण) होता है। वह सामान्य का प्रत्यभिज्ञान

होता है। अर्थात् वह प्रत्यभिज्ञान सामान्य विषयक है।।९१।।

न तदपलापस्तस्मात् ।।९२।।

तिससे उसका अपलाप (असत् कथन) नहीं है।।९२।।

तिससे उसका (सामान्य का) अपलाप (मिथ्या कथन) नहीं है अथवा नहीं हो सकता सामान्यपदार्थ सत्य है।।९२।।

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ।।९३।।

भाव की प्रतीति होने से अन्यनिवृत्ति रूप होना नहीं है।।९३।।

'वही यह है' इस भाव प्रत्यय से सामान्य अन्य का निवृत्तिरूप होना सिद्धि नहीं होती। अन्यथा 'यह घट नहीं है' यही प्रतीत होता है अन्य की व्यावृत्ति मानने में यथा घट न होने में घट होने की व्यावृत्ति (निवृत्ति) अर्थात् घट का न होना घट सामान्य से भिन्न होने को सामान्य मानना है। इससे सामान्य भावरूप ही है अभावरूप नहीं है।।९३।।

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ।।९४।।

प्रत्यक्ष से उपलब्धि होने से सादृश्य तत्त्वान्तर नहीं है।।९४।।

अवयव आदि के सामान्य से भिन्न सादृश्य नहीं है सामान्यरूप ही प्रत्यक्ष से विदित होने से सामान्यरूप ही सादृश्य को मानना चाहिये।।९४।।

शंका–जो स्वाभाविक शक्ति ही सादृश्य मानी जाय तो वह सामान्य नहीं है? उत्तर–

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ।।९५।।

स्वाभाविकशक्ति की अभिव्यक्ति (प्रकटता) भी सादृश्य नहीं है विलक्षणता से उसकी उपलब्धि होने से।।९५।।

स्वाभाविकशक्ति का उत्पन्न होना व प्रकट होना सादृश्य नहीं है। इस हेतु से कि, शक्ति की उपलब्धि (ज्ञान) से सादृश्य की उपलब्धि की विलक्षणता है। शक्ति की उपलब्धि में अर्थात् शक्ति के ज्ञान में अन्यधर्मी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। सादृश्यज्ञान अभाव के ज्ञान के समान प्रतियोगी के अर्थात् जिसका अभाव होता है। उसके ज्ञान की अपेक्षा

करता है इससे दोनों में विलक्षणता है धर्मी की निजशक्ति (स्वाभाविकी शक्ति) सामान्य ही है। सामान्यरूप धर्मी की शक्ति सादृश्य नहीं है धर्मों की शक्ति सामान्य व सादृश्य में भेद न मानने में बाल्य अवस्था में भी युवा के सादृश्य की प्राप्ति हो जावेगी। जो यह कहा जावे कि, युवा आदि कालसम्बंधी शक्तिविशेष, युवा आदि का सादृश्य है। तो ऐसा मानने में भी प्रतिव्यक्ति में अनन्तशक्ति कल्पना करने की अपेक्षा कल्पना मात्र से साधारण एक सामान्य कल्पना करना युक्त है। इससे सामान्य व सादृश्य एक नहीं है।।९५।।

अब जो शब्द व अर्थ में नित्य सम्बंध मानते हैं। वे यह कहते हैं कि, घट आदि संज्ञकत्व (नाम होना) ही घट आदि व्यक्तियों का सादृश्य है इसके प्रतिषेध में यह सूत्र है–

न संज्ञासंज्ञिसम्बंधोऽपि ।।९६।।

संज्ञासंज्ञी का सम्बंध भी नहीं है।।९६।।

संज्ञासंज्ञी का सम्बंध भी विलक्षणता होने से सादृश्य नहीं है। अर्थात् जो संज्ञा (नाम) व संज्ञी (नामी) भाव को नहीं जानता उसको भी सादृश्य का ज्ञान होता है। इस विलक्षणता से संज्ञा संज्ञी का सम्बंध सादृश्य नहीं है।।९६।।

न सम्बंधनित्यतोभयानित्यत्वात् ।।९७।।

दोनों के अनित्य होने से सम्बंध की नित्यता नहीं है।।९७।।

संज्ञा संज्ञी के अनित्य होने से उनके सम्बंध की नित्यता नहीं है। द्रव्य के नष्ट हो जाने पर उस जाति सम्बंधी शब्द व व्यक्तियों के बने रहने से उस शब्द का व्यवहार होता है व शब्द नष्ट हो जाने पर व संज्ञा न जाने हुए अर्थ की भी प्रतीति होने से दोनों की अनित्यता से है। क्योंकि अतीत का वर्तमान के साथ सम्बंध होना संभव न होने से सम्बंध की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती।।९७।।

नातः सम्बंधो धर्मिग्राहकमानबाधात् ।।९८।।

इससे धर्मी के ग्राहक प्रमाण से बाध (निषेध) होने से संबन्ध नहीं है अर्थात् संबन्ध नित्य नहीं है।।९८।।

कभी विभाग होने ही से सम्बंध सिद्ध होता है। अन्यथा जैसा कि आगे वर्णन किया जायगा स्वरूप ही से प्राप्त होने वा सिद्ध होने में सम्बंध कल्पना करने का अवकाश नहीं हो सकता और जो कभी विभाग होना माना जावे तो नित्यसम्बंध होने की हानी होती है। क्योंकि नित्य सम्बंधमें कभी विभाग होना संभव नहीं हो सकता। इससे धर्मीग्राहक प्रमाण से अर्थात् धर्मधर्मी सम्बंध ग्राहक प्रमाण ही से बाध होने से अर्थात् सम्बंध का निषेध हो जाने से नित्यसम्बंध होना सिद्ध नहीं होता।।९८।।

अब यह आशंका है कि, ऐसा मानने में नित्य गुण व गुणी का समवाय (नित्यसम्बंध) होना सिद्ध न होगा। नित्य गुणगुणी का नित्य सम्बंध मानने के योग्य समझा जाता है। इसका उत्तर वर्णन करते हैं–

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ।।९९।।

प्रमाण के अभाव से समवाय (नित्यसंबन्ध) नहीं है।।९९।।

समवाय के होने में प्रमाण का अभाव है। इससे समवाय पदार्थ नहीं है।।९९।।

उभयत्राप्यन्यथा सिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ।।१००।।

दोनों में अन्यथा सिद्धि होने से न प्रत्यक्ष है न अनुमान है।।१००।।

जिसमें विशेष पदार्थ का सम्बंध हो उसको विशिष्ट (विशेषसंयुक्त) कहते हैं व विशिष्ट होना वैशिष्टय कहा जाता है। दोनों में वैशिष्टय के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान में स्वरूप ही से अन्यथा सिद्ध होने से समवाय में प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों प्रमाण नहीं हैं यह भाव है। यथा समवाय के विशिष्ट होने की बुद्धि प्रत्यक्ष व अनुमान के अन्यथा सिद्ध होने पर भी अनवस्थाभय से समवाय के स्वरूप ही से ग्रहण की जाती है। इसी प्रकार से गुणगुणी आदि के विशिष्ट होने की बुद्धि भी उसमें प्रत्यक्ष व अनुमान अन्यथा सिद्धि होने पर भी गुण आदि के स्वरूप ही से सिद्ध जानना चाहिये। जो यह शंका हो कि, ऐसे तर्क से संयोग भी सिद्ध न होगा भूतल आदि में घट आदि के प्रत्यय को भी स्वरूप ही से सिद्ध मानना चाहिये? तो इसका उत्तर यह है कि, वियोगकाल में भी घट व भूतल का स्वरूप

अपनी अपनी अवस्था से बने रहने से विशिष्ट बुद्धि होने का प्रसंग है। इससे संयोग सिद्ध होता है। समवायस्थल में समवेत (समवायसंयुक्त) का कहीं अपने आश्रय से वियोग नहीं होता। इससे समवाय सिद्ध नहीं होता जो यह कहा जावे कि कहीं तादात्म्यसम्बंध में ऐसा होने से समवाय का अन्यथा होना सिद्ध नहीं होता। इससे दोष नहीं है तो शब्दमात्र के भेद से अत्यंत तादात्म्य (उसी के रूपमय होना) न कहना चाहिये। गुण के वियोग में भी गुणी रहता है इससे और विशिष्ट होने के प्रत्यय न होने से समवाय सिद्ध नहीं होता। सम्बंधविशेष भेद अभेद नियामक कहना योग्य है। तादात्म्य शब्द कथन मात्र का भेद है तादात्म्य के सदृश (वही) कहने मात्र से समवाय की सिद्धि नहीं होती।।१००।।

नानुमेयत्वमेव क्रियायाने दिष्टस्य तत्त-
द्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ।।१०१।।

निकटस्थ देखने वाले को उसकी व उस संयुक्त दोनों की प्रत्यक्ष से प्रतीति होने से क्रिया का केवल अनुमान ही के योग्य होना सिद्ध नहीं होता।।१०१।।

प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति व पुरुष के संयोग होने रूप क्रिया होने से सृष्टि होती है यह सिद्धांत है। इसमें यह निश्चय होने के अर्थ कि क्रिया कोई पदार्थ है और कहीं उसका प्रत्यक्ष भी होता है। जिसके द्वारा उसका अनुमान किया जाता है। अथवा अनुमान के योग्य मान लेना मात्र है। यह कहा है कि, देशांतर के संयोग आदि से क्रिया केवल अनुमान ही के योग्य नहीं है। जो निकटस्थ (निकट में स्थित) देखनेवाला है उसको उसके व उसके संयुक्त के अर्थात् क्रिया व क्रिया-संयुक्त दोनों के होने की प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है। यथा 'वृक्ष हिलता है, मनुष्य चलता है' इत्यादि में।।१०१।।

द्वितीयाध्याय में शरीर के विषय में मतभेद मात्र का वर्णन किया है। विशेष निर्णय नहीं किया। अब यहां विशेष के निश्चय व परपक्ष के प्रतिषेध में वर्णन करते हैं—

न पांच भौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥१०२॥

बहुतों के उपादान होने के योग न होने से शरीर पांच-भौतिक नहीं है॥१०२॥

बहुत भिन्न जातियों का उपादान होना घट पट आदि स्थल में प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने से सब शरीर पांचभौतिक (पंचभूत से उत्पन्न) नहीं है॥१०२॥ बहुत यह कहते हैं कि, स्थूल ही शरीर होता है। इसका निषेध करते हैं–

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥१०३॥

स्थूल ही होना नियम नहीं है आतिवाहिक के भी विद्यमान होने से॥१०३॥

स्थूल शरीर होने का नियम नहीं है आतिवाहिक शरीरके भी होने से अर्थात् आतिवाहिक शरीर भी होता है आतिवाहिक सूक्ष्म लिंग शरीर का नाम है। जिससे प्राणी लोकांतर को जाता है और वह भी भौतिक है। क्योंकि विना भूत के आश्रय हुये विना आधार चित्र के तुल्य स्थिर नहीं हो सकता न लोकांतर को जा सकता है। शंका–सूक्ष्म लिंग शरीर सब शरीर में कैसे व्यापक होता है? उत्तर यह है कि, अपने प्रकाश से दीपक के सब घर में व्यांपक होने के सदृश व्यापक होता है॥१०३॥

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तः सर्वप्राप्तेर्वा ॥१०४॥

इन्द्रियों का प्राप्त न हुये का प्रकाशक होना संभव नहीं है विना प्राप्ति के सब प्राप्ति होने का प्रसंग होने से॥१०४॥

प्राप्त न हुए अर्थों का अर्थात् जिन अर्थों के साथ सम्बंध प्राप्त नहीं हुवा उन अर्थों का इंद्रियों का प्रकाशक होना संभव नहीं है। यथा जिसमें अथवा जहाँ दीप आदि के प्रकाश का सम्बंध नहीं होता उस पदार्थ के दीप आदि प्रकाशक नहीं होते विना प्राप्त हुए के प्रकाशक होने में व्यवहित (जो किसी पदार्थ के आड़ में है) आदि सब पदार्थों के प्रकाशक होने का प्रसंग होता है। परंतु व्यवहित आदि पदार्थों का

प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे दूरस्थ सूर्य आदि के सम्बंध के अर्थ गोलक से इंद्रिय भिन्न है। उस गोलक भिन्न इन्द्रिय के सम्बंध से सूर्य आदि का प्रत्यक्ष होता है। पुरुष में अर्थ समर्पण करने के द्वारा करणों का अर्थ प्रकाशक होता है। क्योंकि इन्द्रिय जड़ हैं जड़ इन्द्रियों का दर्पण के तुल्य प्रकाशक होना है। अर्थात् यथा दर्पण मुखप्रकाशक होता है। परंतु आप कुछ नहीं जानता केवल पुरुष को रूपज्ञान प्राप्त होने का हेतु होता है। इसी प्रकार से इन्द्रियों को जानना चाहिये।।१०४।।

न तेजोपसर्पणात् तैजस चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ।।१०५।।

तेज के गमन से चक्षु (नेत्र) तैजस नहीं हैं वृत्ति से उसकी सिद्धि होने से।।१०५।।

तेज फैलता है व दूर जाकर प्राप्त होता है। यह देखकर चक्षु को तैजस न मानना चाहिये विना तैजस होने में भी प्राण के सदृश वृतिभेद से दूर जाना सिद्ध हो सकता है। अर्थात् यथा प्राण नासा के अग्र से शरीर से बाहर कुछ दूर जाकर शरीर में प्राप्त होता है। इसी प्रकार से चक्षु अतैजस द्रव्य होने पर भी वृत्तिद्वारा सूर्य आदि में प्राप्त हो फिर शरीर में प्राप्त होता है।।१०५।।

वृत्ति होने में क्या प्रमाण है! उत्तर–

प्राप्तार्थप्रकाशलिंगाद्वृत्तिसिद्धिः ।।१०६।।

प्राप्त अर्थ ही में प्रकाश होने के लिंग से वृत्ति का होना सिद्ध होता है।।१०६।।

जो अर्थ दूर है उसमें गोलक प्राप्त नहीं हो सकता शरीर ही मात्र में रहता है। अप्राप्त वस्तु का प्रकाशक होना संभव नहीं होता। इससे वृत्ति ही द्वारा दूरस्थ पदार्थ में प्रकाश वा ज्ञान होने से अनुमान से वृत्ति होने की सिद्धि होती है।।१०६।।

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिःसम्बंधार्थं सर्पतीति ।।१०७।।

भाग व गुण से भिन्न तत्त्व वृत्तिसम्बंध के अर्थ गमन करती है।।१०७।।

वृत्ति चक्षु आदि का भाग (अंश) नहीं है व रूप आदि के तुल्य गुण नहीं है। क्योंकि चक्षु के भाग होने में चक्षु इन्द्रिय का सूर्य आदि के साथ सम्बंध होना घटित न होता और गुण होने में गमन की प्राप्ति न होती। इससे बुद्धि वृत्ति भी दीप शिखा के समान द्रव्य रूप ही परिणाम है।। १०७।।

शंका—इस प्रकार से वृत्तियों के द्रव्य होने में इच्छा आदिरूप बुद्धि गुणों में वृत्ति व्यवहार क्यों होता है? उत्तर—

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ।।१०८।।

तिसमें योग होने से द्रव्य होने का नियम नहीं है।।१०८।।

तिसमें अर्थात् वृत्ति में योग होने से वृत्ति द्रव्य ही होती है। यह नियम नहीं है वृत्ति वर्तन व जीवन को कहते हैं। यह यौगिक शब्द है जीवन स्वस्थिति (अपने स्थिति) हेतु के व्यापार को कहते हैं। क्योंकि जीव धातु बल व प्राणधारण अर्थ में है। इससे जीवन का अर्थ बल व प्राणधारणारूप स्थितिका होने से व वैश्यवृत्ति शूद्रवृत्ति आदि व्यवहार से यह अर्थ सिद्ध होता है। इससे यथा द्रव्य रूप वृत्ति सहित बुद्धि जीती। अर्थात् जीवन धारण करती है इसी प्रकार से इच्छा आदि वृत्तियां हैं। उन सहित भी जीती है, सब वृत्तियों के विरोध ही से चित्त का मरण होता है।।१०८।।

शंका—इन्द्रियां भौतिक सुनी जाती हैं जो इस लोक में भौतिक नहीं हैं तो अन्य लोकों में होंगी? उत्तर—

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ।।१०९।।

देशभेद होने में भी अन्य उपादानता नहीं है
अस्मदादि के समान नियम है।।१०९।।

ब्रह्मलोक आदि देशभेद होने में भी इन्द्रियों का अहंकार से भिन्न उपादान होना सिद्ध नहीं होता। अस्मद् आदि के समान अर्थात् हम भूलोकवालों के सदृश सब लोकवालों के इन्द्रियों का आहंकारिक होने का नियम है। देशभेद से एक लिंगशरीर ही का सञ्चारमात्र सुना जाता है।।१०९।।

शंका—श्रुति में भौतिक क्यों कहा है? उत्तर—

निमित्तव्यपदेशात्तव्द्यपदेशः ॥११०॥

निमित्त व्यपदेश से उसका व्यपदेश है॥११०॥

निमित्त में भी प्राधान्य के कहने की इच्छा से उपादान का होना कहा जाता है। यथा 'ईंधन से अग्नि' यह कहने में ईंधन अग्नि का उपादान कारण कहा जाता है। तेज आदिभूत आलम्बन करके उसके अनुगत अहंकार से चक्षु आदि इन्द्रियों का होना संभव होता है। यथा पार्थिव द्रव्य ईंधन को आलम्बन करके उसके अनुगत होने से तेज से अग्नि होती है इत्यादि॥११०॥

अब स्थूल शरीर के भेद को वर्णन करते हैं–

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥१११॥

ऊष्मज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज, सांकल्पिक, सांसिद्धिक, शरीर होते हैं इससे नियम नहीं है॥१११॥

श्रुति में जो अण्डज जरायुज उद्भिज्ज त्रिविध शरीर कहा है। वह इन त्रिविध से अधिक होने के अभिप्राय से कहा है इन तीन ही प्रकार के होने का नियम नहीं है। क्योंकि ऊष्मज आदि छः प्रकार के शरीर होते हैं। 'ऊष्मज यथा मसा आदि, अण्डज पक्षी सर्प आदि, जरायुज मनुष्य आदि, उद्भिज्ज वृक्ष आदि, संकल्पज सनकादि' सांसिद्धिक जो शरीर तप आदि की सिद्धि से उत्पन्न होते हैं॥१११॥

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥११२॥

सब में असाधारण्य से पृथिवी उपादान है इसका वर्णन पूर्व ही के सदृश है॥११२॥

असाधारण्य से अर्थात् आधिक्य आदि से उत्कर्ष होने से सब शरीरों में पृथिवी ही उपादान कारण है। शरीर में पांचभौतिक चातुर्भौतिक आदि भेद कहना पूर्व ही के सदृश जानना चाहिये। अर्थात् इन्द्रियों का भौतिकत्व उपष्टम्भक (स्थापन करनेवाला) होना मात्र है॥११२॥

शंका–शरीर में प्राण के प्रधान होने से प्राण ही शरीर का आरंभक है अथवा नहीं है? उत्तर–

न देहारंभकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तिस्तत्सिद्धेः ।।११३।।

देह आरंभक का प्राण होना सिद्ध नहीं होता इन्द्रियों की शक्ति से उसकी सिद्धि होने से।।११३।।

देह आरंभ पदार्थ का प्राण होना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् प्राण देह का आरंभक नहीं है क्योंकि विना इन्द्रिय प्राण की स्थिति नहीं है। अन्वय व व्यतिरेक से इन्द्रियों के शक्ति विशेष ही से प्राण होने की सिद्धि वा उत्पत्ति है। करणवृत्तिरूप प्राण करणों के वियोग में नहीं रहता है। इससे मृत देह में करण के अभाव से प्राण का भी अभाव होने से प्राण देह का आरंभक नहीं है।।११३।।

शंका–जो प्राण देह का कारण नहीं है तो विना प्राण भी देह उत्पन्न होवे? उत्तर–

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात् ।।११४।।

भोक्ता के अधिष्ठान होने से भोगायतन निर्माण होता है अन्यथा पूतिभाव के प्रसंग होने से।।११४।।

भोक्ता प्राणी के अधिष्ठान से (अधिष्ठानरूप प्राण से) व्यापार होने से भोगायतन (भोगस्थान) शरीर का निर्माण होता है। प्राण के व्यापार विना शुक्रशोणित का पूतिभाव होने का प्रसंग होता है। जैसा कि, प्राण व्यापार रहित होने से मृतदेह में दुर्गंध होता है। इससे रस संचार आदि व्यापार विशेष से प्राण देह का निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं है।।११४।।

भृत्यद्वारास्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।।११५।।

भृत्यद्वारा स्वामी की अधिष्ठिति है, एकान्त से नही है।।११५।।

देह निर्माण में व्यापाररूप अधिष्ठान एकान्त से नहीं है। अर्थात् साक्षात् चेतन स्वामी ही का नहीं है किन्तु प्राणरूप भृत्यद्वारा चेतन का अधिष्ठान है। यथा पुर निर्माण करने में राजा की भृत्यद्वारा अधिष्ठिति होती है। प्राण साक्षात् देह में व्यापार का अधिष्ठाता है पुरुष का

अधिष्ठाता होना केवल प्राण के संयोग मात्र से है। यद्यपि प्राण ही के अधिष्ठान से देह का निर्माण होता है। तथापि प्राणद्वारा प्राणी के संयोग की भी अपेक्षा होती है। क्योंकि पुरुष ही के अर्थ प्राण करके देह निर्माण किया गया है। इस आशय से भोक्ता का अधिष्ठान होना कहा गया है।।११५।।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ।।११६।।

समाधि व सुषुप्ति व मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है।।११६।।

समाधि से यहां असम्प्रज्ञात अवस्था सुषुप्ति से समग्र सुषुप्ति मोक्ष से विदेह कैवल्य अभिप्राय है। इन अवस्थाओं में पुरुष को ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है। अर्थात् पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। बुद्धिवृत्तियों के लय होने से बुद्धि उपाधिकृत पदार्थ के नाश होने से पूर्णता के साथ अपने स्वरूप में स्थित होता है। यथा घट के नाश होने में घटाकाश की पूर्णता होती है। नैमित्तिक उपाधि के अभाव हो जाने पर पुरुषों का ब्रह्म होना ही स्वभाव है। जैसे औपाधिक अरुणता के अभाव होने में अर्थात् दूर हो जाने पर स्फटिक का शुक्ल होना ही स्वभाव है। बुद्धिवृत्ति प्रतिबिंब वश से जो दुःख आदि की मलिनता पुरुष में होती है उपाधि मात्र से होती है। पुरुष नित्यमुक्त है औपाधिक दुःख की निवृत्ति के अर्थ प्रकृति की सृष्टि है। जैसा पूर्व ही कहा गया है कि, विमुक्त के मोक्ष के अर्थ प्रकृति की सृष्टि है।।११६।।

शंका–जो तीनों तुल्य हैं तो सुषुप्ति समाधि से मोक्ष में कुछ विशेषता नहीं है उसको श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिये? उत्तर–

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ।।११७।।

दोनों में बीज सहित है अन्य में उसका अभाव है।।११७।।

दोनों सुषुप्ति समाधि में पुरुषबंध बीज सहित रहता है। अन्य में अर्थात् मोक्ष में उसका अर्थात् बंध बीज का अभाव होता है। इससे यह कहा है कि दोनों सुषुप्ति व समाधि में पुरुष बंध बीज सहित है व मोक्ष में बंधबीज रहित होता है यह मोक्ष में विशेषता व उत्कृष्टता है।। ११७।।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्नतु द्वौ ।।११८।।

दो के सदृश तीसरे के भी दृष्ट होने से दो नहीं है।।११८।।

दो के सदृश अर्थात् सुषुप्ति समाधि के सदृश मोक्ष के भी दृष्ट होने से अर्थात् ज्ञात वा अनुमित होने से दो ही नहीं हैं। अर्थात् सुषुप्ति व समाधि यही दो नहीं है तीसरा इनसे भिन्न मोक्ष भी पदार्थ है यह सिद्ध होता है। सुषुप्ति आदि में जो ब्रह्मभाव है वह चित्त में राग आदि दोष संस्कार संयुक्त होता है। यह दोष जब ज्ञान से नष्ट होता है। तब सुषुप्ति आदि के सदृश ही मोक्ष अवस्था स्थिर होती है।।११८।।

शंका–समाधि में वासना बीजसंस्कार होने पर भी वैराग्य आदि से वासना कुंठ हो जाने से अर्थ के आकाररूप वृत्ति समाधि में न होना मानने के योग्य है। परंतु सुषुप्ति में वासना प्रबल होने से अर्थज्ञान होने से अर्थज्ञान होना चाहिये। इससे सुषुप्ति में ब्रह्म रूपता कहना युक्त नहीं है? उत्तर–

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ।।११९।।

निद्रादोष योग में भी वासना अर्थ स्मरण कराना नहीं होता न निमित्त का प्रधान का बाधक होना सिद्ध होता है।।११९।।

यथा वैराग्य में तथा निद्रादोष के योग होने में भी वासना करके अर्थात् वासना से अपने अर्थ का स्मरण कराना नहीं होता है। क्योंकि निमित्त का अर्थात् संस्कार का बलवान् निद्रा दोष का बाधक होना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् निमित्तरूप संस्कार प्रधानरूप बलवान् निद्राका बाधक नहीं होता। बलवान् निद्रा दोष ही वासना को दुर्बल व उसको अपने कार्य में कुण्ठकर देता है।।११९।।

शंका–संस्कार लेश से जीवन्मुक्त का शरीर धारण होता है यह तृतीयाध्याय में कहा है। उसमें यह आक्षेप है कि, जीवन्मुक्त के पूर्व संस्कार के नाश हो जाने से व ज्ञान के प्रतिबंध होने के कारण से कर्म के तुल्य फिर संस्कार उदय न होने से जीवन्मुक्त को भोग होना किस प्रकार से संभव होता है? उत्तर–

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तको नतु प्रतिक्रिय संस्कारभेदा बहुना कल्पनाप्रसक्तेः ॥१२०॥

एक संस्कारक्रिया निर्वतक है बहुत कल्पना प्रसंग होने से प्रतिक्रिया संस्कारभेद नहीं है॥१२०॥

जिस संस्कार से देव आदि शरीर का भोग आरब्ध होता है। अर्थात् आरंभ को प्राप्त होता है वह एक संस्कार उस शरीर से साध्य जो आरब्ध भोग है। उसका समाप्त करनेवाला होता है और वह कर्म के सदृश भोग की समाप्ति में नाश्य होता है। प्रतिक्रिया प्रतिभोग व्यक्ति में नाना संस्कार नहीं होते नहीं बहुव्यक्ति कल्पना करने में गौरव दोष होने का प्रसंग होगा। यथा कुलालचक्र भ्रमण स्थल में वेग संज्ञक भ्रमण समाप्ति पर्य्यंत रहनेवाला एक ही संस्कार होता है। इसी प्रकार से एक शरीर साध्य प्रारब्धक भोग के समाप्त होने पर्यंत एक ही संस्कार जिससे शरीर भोग आरब्ध होता बना रहता है॥१२०॥

शंका–उद्भिज्ज शरीर जो कहा गया है उसमें बाह्य बुद्धि नहीं है। उससे शरीर होना संभव नहीं होता है? उत्तर–

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥१२१॥

बाह्य बुद्धि का नियम नहीं है वृक्ष गुल्म लता औषधि वनस्पति तृण वीरुध आदिकों का भी भोक्ता व भोगायतन होना पूर्व के तुल्य है॥१२१॥

जिसमें ब्रह्मज्ञान होवे वही शरीर हो यह नियम नहीं है। वृक्ष आदि अंत:संज्ञों का भी भोक्ता व भोगायतन अर्थात् भोगस्थान शरीर होना पूर्व के तुल्य मानना चाहिये। अर्थात् यथा पूर्व ही कहा गया है कि, भोक्तृ अधिष्ठान हुए विना मनुष्य आदि शरीर का पूती भाव होता है। इसी प्रकार से वृक्ष आदि शरीरों में भी शुष्कता आदि होना मानने के योग्य है व श्रुति प्रमाण से सिद्ध है। श्रुति यह है "अस्य यदेकशाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति" इत्यादि। अर्थ–इसके जिस एक शाखा को जीव त्याग करता है वह सूख जाती है इत्यादि॥१२१॥

स्मृतेश्च ।।१२२।।

स्मृति से भी।।१२२।।

स्मृति से भी वृक्ष आदि के शरीर होने का प्रमाण है स्मृति में य कहा है "शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृग मानसैरन्त्यजातिताम् ।।" अर्थ–शरीर से उत्पन्न कर्मदोषों से मनु स्थावर (वृक्षआदि) होता है। वाचिकदोषों से पक्षी मृग होता मानसदोषों से अन्त्यज कीट पतंग आदि होता है।।१२२।।

शंका–शरीरधारी चेतन होने से वृक्ष आदि में भी धर्म अधर्म हो चाहिये? उत्तर–

न देहमात्रतः कर्माधिकारत्ववैशिष्ट्यश्रुतेः ।।१२३।।

विशिष्ट होने में श्रुतिप्रमाण होने से देहमात्र से कर्म अधिकार होना सिद्ध नहीं होता।।१२३।।

देहमात्र से जीव का धर्म अधर्म के योग्य होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि विशिष्ट होने में धर्म अधर्म कर्म का अधिकारी होना श्रुति कहा है। अर्थात् ब्राह्मण आदि मनुष्य शरीर ज्ञान विशिष्ट के अर्थ क करने व धर्म अधर्म का उपदेश श्रुति में है अन्य में नहीं है।।१२३।।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ।।१२४।।

तीन की तीन प्रकार की कर्मदेह उपभोगदेह उभयदेह होने की व्यवस्था है।।१२४।।

तीन की अर्थात् उत्तम मध्यम अधम की तीन प्रकार की कर्मदे उपभोगदेह उभयदेह होने की व्यवस्था है। यथा–ऋषियों का देह क देह है, व इन्द्र आदिकों का उपभोग देह है और राजऋषियों का कर्म भोग उभयदेह है। अर्थात् कर्म व भोग दोनों के अर्थ है प्रधानता से तीन प्रका का विभाग है। अन्यथा सब ही का भोग देह होना सिद्ध होता है।।१२४।।

न किञ्चिदप्यनुशायिनः ।।१२५।।

विरक्त का देह तीन में से कोई नहीं है।।१२५।।

जो वैराग्य को प्राप्त पुरुष है। उसका देह उक्त तीन प्रकार में से को

हीं है अर्थात् तीनों से विलक्षण है।।१२५।।

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ।।१२६।।

आश्रयविशेष में भी अग्नि के तुल्य बुद्धि आदि का नित्यत्व नहीं है।।१२६।।

बुद्धि निश्चय करनेवाली वृत्ति का नाम है बुद्धि इच्छा आदि का जो किसी आश्रयविशेष ईश्वर अथवा आदि पुरुष ब्रह्मा विष्णु आदि में नित्य होना माना जावे तो आश्रयविशेष में भी नित्य होना संभव नहीं होता। हमको अपनी बुद्धि व इच्छा आदि के अनित्य होने के दृष्टांत से भाव ही की बुद्धि व इच्छा आदि के अनित्य होने का अनुमान करना योग्य है। यथा लौकिक अग्नि के दृष्टांत से आवरण तेज के भी अनित्य होने का अनुमान होता है।।१२६।।

आश्रयासिद्धेश्च ।।१२७।।

आश्रय सिद्ध न होने से भी।।१२७।।

जो यह माना जाय कि, पुरुष नित्य है पुरुष में आश्रित बुद्धि नित्य है। तो पुरुष का धर्म बुद्धि नहीं है न पुरुष बुद्धि का आश्रय होना सिद्ध होता है। बुद्धि प्रकृतिकार्यरूप अनित्य है। पुरुष का आश्रय होना सिद्ध न होने से परिणाम धर्मवाली प्रकृति कारण से जन्य बुद्धि अनित्य है। पुरुष अपरिणामी नित्य में उपाधि मात्र से जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है बुद्धि का सम्बंध होता है।।१२७।।

शंका—पूर्व ही जो सिद्ध पुरुषों में सृष्टिकर्ता होने का सामर्थ्य व ऐश्वर्य होना वर्णन किया है। सिद्धों में ऐश्वर्य सामर्थ्य होने आदि की सिद्धियों के होने का प्रमाण किस प्रकार से होता है? इसके समाधान में सिद्धियों के प्रमाण होने का हेतु दृष्टांत वर्णन करते हैं—

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ।।१२८।।

योगसिद्धियाँ भी औषध आदि सिद्धियों की समान असत् कहने के योग्य नहीं हैं।।१२८।।

औषध आदि सिद्धियों के सदृश योगसिद्धियाँ असत् कहने के योग्य नहीं हैं। अर्थात् औषध आदि सिद्धियों के सदृश सत्य हैं योग से उत्पन्न

अणिमादिक सिद्धियां सृष्टि उत्पन्न करने आदि की उपयोगि होती हैं।।१२८।।

अब जो भूतों का धर्म चैतन्य मानते हैं उनके मन का प्रतिषे करते हैं–

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ।।१२९।।

प्रत्येक में दृष्ट न होने से संहत होने की अवस्था में भी संहत होने अवस्था में भी भूतों में चैतन्य (चेतनता) नहीं है।।१२९।।

पंचभूतों में से एक एक भिन्न में किसी में चैतन्य दृष्ट न होने अर्थात् प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने से उनकी संहत भाव की अवस्था अर्थात् मिलने की अवस्था में भी चैतन्य होने का अनुमान नहीं होता क्योंकि जो कारण में नहीं है वह कार्य में नहीं हो सकता और इसक विशेष व्याख्यान पूर्व ही किया गया है। प्रत्येक भूत में चैतन्य न होने संहतभाव शरीर में चैतन्य धर्म न होने का अनुमान होता है। इससे भूत में चैतन्य नहीं है यह सिद्ध होता है।।१२९।।

इति श्रीसांख्यदर्शने प्रभुदयालुनिर्मिते देशभाषाभाष्ये परपक्षनिर्णये पंचमोऽध्यायः ।।५।।

षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

पंचम अध्याय में परपक्ष का निराकरण (खण्डन) करके अपने मत को सिद्ध करके उसी सारभूत शास्त्रार्थ को इस छठवें अध्याय में दृढतर बोध उत्पन्न होने के लिये वर्णन करते हैं–

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ।।१।।

नास्तित्व साधन के अभाव होने से आत्मा है।।१।।

'मैं जानता हूँ' यह प्रतीति होने से सामान्य से पुरुष सिद्ध है। नास्तित्व के साधन के अभाव से अर्थात् आत्मा के न होने का साधन के अभाव से अर्थात् आत्मा के होने का बाधक होने के प्रमाण के अभाव से आत्मा है। यह सिद्ध है विवेक मात्र करना उचित है।।१।।

देहादिव्यतिरिक्तोसौ वैचित्र्यात् ।।२।।

विचित्र होने से यह देह आदि से भिन्न है।।२।।

यह आत्मा चेतन देह आदि प्रकृति पर्यंत से भिन्न है किस हेतु से भिन्न होना सिद्ध होता है? परिणामी होने व परिणामी न होने यह विचित्र धर्म होने से अर्थात् प्रकृति व प्रकृति के कार्य जिनका प्रत्यक्ष अनुमान शब्द से परिणामी होना सिद्ध होता है। उनसे विचित्र अर्थात् उनके विरुद्ध पुरुष अपरिणामी सिद्ध होने से पुरुष देह आदि प्रकृति कार्य से भिन्न है। पुरुष का अपरिणामी होना सदा ज्ञात विषय होने से अनुमान किया जाता है। जैसे चक्षु का रूप ही विषय है समसन्निकर्ष होने में भी रसआदि विषय नहीं हैं। इसी प्रकार से अपनी बुद्धिवृत्ति ही पुरुष का विषय है। समसन्निकर्ष होने पर भी अन्यवस्तु विषय नहीं है बुद्धिवृत्ति की आरूढ़ता ही से अन्य पदार्थ पुरुष को भोग्य होते हैं। यह बुद्धिवृत्तियाँ अज्ञाता नहीं रहती जो ज्ञान इच्छा सुख आदि भी अज्ञात सत्ता से अंगीकार किये जावें तो उनमें भी यथा घट आदि अन्य पदार्थों

में संशय होता है। ऐसा संशय होना चाहिये कि, 'मैं हूं वा नहीं हूं मैं जानता हूं वा नहीं जानता हूँ सुखी हूँ वा नहीं हूँ' परंतु ऐसा नहीं होता इससे उनके सदा ज्ञात होने से उनका द्रष्टा चेतन अपरिणामी है यह सिद्ध होता है। क्योंकि परिणामी होने में कभी परिणाम होने में बुद्धिवृत्ति होने में भी बुद्धिवृत्ति के अज्ञान से संशय प्राप्त होना संभव है॥२॥

षष्ठी व्यपदेशादपि ॥३॥

षष्ठी व्यपदेश से भी॥३॥

षष्ठी विभक्ति के व्यपदेश (कथन) से भी आत्मा शरीर से भिन्न है यह सिद्ध होता है। यथा यह कहने में यह मेरा शरीर है मेरी बुद्धि है, इत्यादि में भेद होना प्रतीत होता है अत्यंत अभेद होने में संबंध संबंधी के अभाव से षष्ठी की प्राप्ति नहीं हो सकती॥३॥

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥

धर्मि ग्राहक प्रमाण से प्रतिषेध होने से शिला के पुत्र के सदृश नहीं है॥४॥

जो यह तर्क किया जावे कि, सम्बंध अर्थ में षष्ठी का व्यपदेश इस प्रकार से है जैसा शिला के पुत्र का शरीर कहना, इस तर्क के प्रतिषेध व समाधान के अर्थ सूत्र में यह कहा है कि, पुरुष में षष्ठी का व्यपदेश शिलापुत्र के षष्ठी व्यपदेश के सदृश नहीं है। क्योंकि शिला पुत्र आदि स्थल में धर्मिग्राहक प्रमाण से बाधा वा प्रतिषेध होने से एक विकल्प मात्र है। मेरा शरीर आदि कहने में प्रमाण से बाधा नहीं है अर्थात् प्रमाण के विरुद्ध नहीं है। केवल देह के आत्मा होने के प्रमाण का प्रतिषेध है पुरुष के होने का बोध कि, 'मैं हूँ' यह स्वाभाविक अनुभव से सिद्ध है व अन्य पदार्थ के साथ सम्बंध बोधगत होने से 'मेरा शरीर' आदि कहना युक्त है कल्पना मात्र नहीं है॥४॥

देह से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा को वर्णन करके मुक्ति का वर्णन करते हैं–

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥५॥

अत्यंत दुःख की निवृत्ति होने से कृतार्थता होती है॥५॥

अत्यंत दुःख निवृत्त होने से मुक्ति होती है यह भाव है॥५॥

यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ।।६।।

यथा दुःख से पुरुष का द्वेष होता है तथा सुख से अभिलाष नहीं होता।।६।।

यदि यह शंका हो कि, मोक्ष में भोग्य सुख दुःख दोनों की निवृत्ति होती है। सुखनिवृत्ति मोक्ष है यह क्यों नहीं कहा दुःख ही के निवृत्ति को मोक्ष क्यों कहा है? इस शंका निवारण के अर्थ यह कहा है कि यद्यपि दुःख की निवृत्ति सुख की प्राप्ति यह विशेष मनोरथ सब प्राणियों का है। परंतु दुःख प्राप्त होने में जैसा द्वेष पुरुष का होता है। सुख प्राप्ति में ऐसा अभिलाष नहीं होता, द्वेष प्रबल व अभिलाष उसके अपेक्षा दुर्बल होता है। इससे प्रबल होने से दुःख की निवृत्ति को मुख्य मानकर दुःख की निवृत्ति को मोक्ष वर्णन किया है व सुख की अपेक्षा दुःख की बाहुल्यता है। इससे भी दुःख ही के निवृत्त होने को कहा है दुःख की अधिकता आगे के सूत्र में सूचित किया है।।६।।

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ।।७।।

कहीं कोई सुखी है।।७।।

इस अनन्त सृष्टि तृण वृक्ष पशु पक्षी आदि में कुछ मनुष्य देवता आदि ही सुखी होते हैं। इससे कहीं कोई सुखी होना कहा है।।७।।

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।।८।।

वह भी दुःख मिश्रित है यह समझकर विवेक करनेवाले दुःख ही पक्ष (कोटि) में संयुक्त करते हैं।।८।।

कहीं कोई सुखी है यह जो पूर्वसूत्र में कहा है। उस सुख को भी विवेक करनेवाले दुःख ही पक्ष में मिलाते हैं। अर्थात् इस संसार में सुख बहुत कम है और जो सुख कहीं है भी वह मिठाई व विष मिले हुए अन्न के सदृश दुःख मिला हुवा है दुःख रहित नहीं है। इससे जो सुख भी है उसको भी विवेक करनेवाले दुःख समझकर दुःख ही पक्ष में डालते वा संयुक्त करते हैं।।८।।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमितिचेन्न द्वैविध्यात् ।।९।।

सुख लाभ के अभाव से पुरुषार्थत्व नहीं है यह माना जाय नहीं दो विध होने से।।९।।

जो यह समझा जावे कि, सुख लाभ न होना यही पुरुषार्थत्व का न

होना है। तो इसका उत्तर यह है कि, नहीं अर्थात् सुख लाभ का न होना पुरुषार्थ का न होना नहीं है। किस हेतु से नहीं है दो प्रकार होने से सुख होने व दुःख के न होने की प्रार्थना होने से दो प्रकार का पुरुषार्थ है क्योंकि, मैं सुखी होऊं दुःखी न होऊं यह दो भिन्न भिन्न प्रार्थना लोक में होना विदित होती हैं।।९।।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादि श्रुतेः।।१०।।

असंगत्व आदि प्रतिपादक श्रुति होने से आत्मा का निर्गुण होना सिद्ध है।।१०।।

आत्मा निर्गुण है अर्थात् सुख दुःख मोह आदि सम्पूर्ण गुणों से नित्य शून्य है, किस प्रमाण से? श्रुति प्रमाण होने से अर्थात् विकार के हेतु संयोग का अभाव श्रुति से सिद्ध होने से पुरुष का निर्गुण होना सिद्ध होता है। क्योंकि विना संयोग गुणनामक विकार का होना संभव नहीं होता। इससे दुःखनिवृत्त होना भी पुरुषार्थ होना घटित नहीं होता असंग होने के प्रमाण में श्रुति यह है "स यदत्र किंचित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः" अर्थ–यह अर्थात् पुरुष जो जो पदार्थ इस संसार में जानता वा देखता है। उनके साथ उसका मेल नहीं है इससे यह पुरुष असंग है।।१०।।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्।।११।।

परधर्म होने में भी अविवेक से उसकी सिद्धि है।।११।।

सुख दुःख आदि आत्मा के गुण नहीं हैं पर के अर्थात् चित्त के धर्म हैं। तथापि आत्मा में सिद्ध होते हैं अर्थात् अविवेक निमित्त से प्रतिविम्बरूप ये दुःख आदिकों की आत्मा में अवस्थिति है। इसका विशेष वर्णन पूर्व ही किया गया है।।११।।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः।।१२।।

अविवेक अनादि है अन्यथा दो दोष होने के प्रसङ्ग होने से।।१२।।

अविवेक प्रवाहरूप से चित्त का अनादि धर्म है। वासनारूप से प्रलय में स्थित रहता है जो अनादि न माना जावे तो दोष होने का प्रसंग है। अनायास अपने से उत्पन्न होने में मुक्त का भी बंध हो जायगा और कर्म आदि से उत्पन्न

होने में कर्म आदिक में भी कारण होने में अविवेकान्तर (अन्य अविवेक) अन्वेषण (खोज) करने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यह अविवेकवृत्तिरूप प्रतिबिम्ब स्वरूप से पुरुषधर्म के सदृश होता है। इससे पुरुष के बंध का प्रयोजक (प्रेरक) होता है अर्थात् पुरुष के बंध का हेतु होता है यह भाव है।। १२।।

शंका—अनादि है तो नित्य होगा? उत्तर—

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ।। १३।।

आत्मा के समान नित्य न होगा अन्यथा उसका नाश न होगा।। १३।।

अविवेक आत्मा के तुल्य अखण्ड एक नित्य अनादि नहीं है। किंतु प्रवाहरूप से (सम्बंध न टूटने से) अनादि है अन्यथा अनादि का नाश होना संभव न होगा।। १३।।

बंधकारण को कहकर अब मोक्षकारण को वर्णन करते हैं—

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ।।१४।।

अंधकारके सदृश प्रतिनियतकारण से इसका नाश्यत्व है।।१४।।

इसका अर्थात् बंध के कारण अविवेक का प्रतिनियतकारण से नाश्यत्व (नाश होने के योग्य होना) है अर्थात् प्रतिनियतकारण जो अविवेक से नाश का विशेष नियत कारण विवेक है। उससे अविवेक का नाश होता है यथा अंधकार प्रतिनियतकारण प्रकाश ही से नाश को प्राप्त होता है अन्य साधन से नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार से अविवेक प्रतिनियतकारण विवेक ही से नाश किया जाता है अन्य उपाय से अविवेक का नाश नहीं होता।।१४।।

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ।।१५।।

इसमें भी अन्वयव्यतिरेक से प्रतिनियम है।।१५।।

इसमें भी अर्थात् विवेक में भी अन्वय व्यतिरेक से कारण का प्रतिनियम होना सिद्ध है। अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन (वारम्वार ध्यान व चिन्तन करना) का अन्वय (विशेष योग) है और कर्म का व्यतिरेक (भेद) है अभिप्राय यह है कि, विवेक में श्रवण मनन निदिध्यासनरूप ही कारण है। कर्म आदिकारण नहीं है। कर्मादिक

बहिरंग है श्रवण मनन आदि के सदृश अंतरंगरूप कारण नहीं हैं।।१५।।

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बंधः ।।१६।।

अन्य प्रकार संभव न होने से अविवेक ही बंध है।।१६।।

अविवेक से भिन्न अन्य प्रकार से पुरुष में बंध होना संभव न होने से अर्थात् स्वाभाविक पुरुष में बंध होना जैसा कि, प्रथम अध्याय में प्रतिषेध किया गया है। सिद्ध न होने से तथा अन्य को बंध का हेतु सिद्ध न होने से केवल अविवेक ही बंध का हेतु है। इससे अविवेक ही बंधरूप है यह भाव है।।१६।।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ।।१७।।

मुक्त का फिर बंधयोग भी नहीं होता अनावृत्ति प्रतिपादक श्रुति होने से।।१७।।

अनावृत्ति होने के प्रमाण में यह श्रुति है "भावकार्यस्यैव विनाशितया मोक्षस्य नाशो नास्ति न स पुनरावर्तते" अर्थ–भाव कार्य ही के विनाशित (नाश को प्राप्त) होने से मोक्ष का नाश नहीं है। अर्थात् बंधभाव (होने) का हेतु से अविवेक कार्य का विवेक से नाश होने से मोक्ष का नाश नहीं है न वह (मुक्त) फिर बंध में प्राप्त होता है व संसार में आता है। इस प्रकार से अनावृत्ति (फिर न होना अर्थात् फिर बंध न होना) होना श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने से मुक्त का फिर बंधयोग भी नहीं है। भी शब्द यह सूचित करने के लिये है कि मुक्तों का फिर बंध नहीं होता। ऐसा न समझना चाहिये जो परम मोक्ष को नहीं प्राप्त हुये ऐसे मुक्तों का फिर बंध होता है। अनेक मुक्तों में कोई परम मोक्ष को प्राप्त मुक्त का फिर बंध भोग भी श्रुतिप्रमाण अनुसार नहीं होता और जिनका फिर बंध नहीं होता वही यथार्थ मुक्त व पुरुषार्थ को प्राप्त हैं।।१७।।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ।।१८।।

अन्यथा पुरुषार्थ होना सिद्ध न होगा।।१८।।

अन्यथा अर्थात् जो कोई ऐसा मुक्त होना कि, जिसको फिर बंध न होना माना जावे तो परमपुरुषार्थ (सर्वथा दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष) का

होना सिद्ध न होगा।।१८।।

अविशेषापत्तिरुभयोः ।।१९।।

दोनों के विशेष न होने की प्राप्ति होगी।।१९।।

जो मुक्त की भी फिर बंध हो जाना है तो बद्ध व मुक्त में दोनों के सम हो जाने से कुछ विशेषता न रहेगी।।१९।।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ।।२०।।

अन्तराय के नाश होने से पर पदार्थ मुक्ति नहीं है।।२०।।

अन्तराय (विघ्न) जो अविवेक हेतु से बुद्धि उपाधिद्वारा उत्पन्न दुःख है। उसके नाश से पर श्रेष्ठ अथवा भिन्न कोई पदार्थ मुक्ति नहीं है अर्थात् अन्तराय का नाश होना ही मुक्ति है।।२०।।

तत्राप्यविरोधः ।।२१।।

उसी में अविरोध।।२१।।

उसी में अर्थात् विघ्न नाश होने ही के मोक्ष होने में पुरुषार्थ होने का विरोध नहीं है। अर्थात् पुरुषार्थ होना सिद्ध होता है दुःख का योग व वियोग ही पुरुष में कल्पित है दुःख भोग कल्पित नहीं है। दुःख सम्बंध होना अर्थात् स्फटिक में जपाकुसुम के प्रतिबिंब के सदृश प्रतिबिंबरूप से दुःख सम्बंध होना भोग है। इसी का निवृत्त होना मोक्ष व विघ्न का नाश होता है।।२१।।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।।२२।।

अधिकारी तीन प्रकार के होने से नियम नहीं है।।२२।।

उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के ज्ञान के अधिकारी हैं, त्रिविध अधिकारी होने से श्रवणमात्र के पश्चात् सब ही के मानस साक्षात्कार होने का नियम नहीं है। मन्द अधिकार होने ही के दोष से श्रवणमात्र से विरोचन आदि को मानसज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। इससे श्रवणमात्र का ज्ञान उत्पन्न करने में सामर्थ्य नहीं है।।२२।।

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ।।२३।।

दृढ होने के अर्थ उत्तरवालों का।।२३।।

विघ्न का नाश दृढ होने के अर्थ अर्थात् आत्यन्तिक नाश होने के अर्थ

श्रवण से उत्तर (पश्चात्) जो मनन निदिध्यासन हैं उनका नियम है। नियम शब्द का पूर्वसूत्र सम्बंध से व भाव से ग्रहण होता है।।२३।।

अब उत्तरवाले मनन निदिध्यासन आदि के साधन को वर्णन करते हैं–

स्थिरं सुखमासनमिति न नियमः ।।२४।।

सुखपूर्वक स्थिर होना आसन है नियम नहीं है।।२४।।

आसन में पद्मासन आदि का नियम नहीं है जिसमें सुख से स्थिर हो वही आसन है।।२४।।

ध्यानं निर्विषयं मनः ।।२५।।

विषय रहित मन (अंतःकरण) ध्यान है।।२५।।

वृत्तियों से अंतःकरण का शून्य होना ही ध्यान है जैसा कि, योगदर्शन में कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है, वहां ध्यान शब्द से योग कहने का अभिप्राय है। अर्थात् ध्येय पदार्थमात्र में चित्त का लगना और सम्पूर्ण विषयरूप वृत्तियों से अंतःकरण का रहित होना ध्यान है।।२५।।

शंका–जब पुरुष योग अयोग में एक ही रूप रहता है नित्यमुक्त है। फिर योगसाधन से क्या प्रयोजन है? उत्तर–

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ।।२६।।

दोनों प्रकार में विशेष नहीं है यह माना जावे तो ऐसा नहीं है उपराग निरोध होने से विशेष है।।२६।।

दोनों प्रकार में अर्थात् योग अवस्था व अयोग अवस्था में विशेष नहीं है। जो यह संशय होवे तो उत्तर यह है कि, नहीं योग अवस्था में अयोग अवस्था से उपराग निरोध होने से अर्थात् प्रतिबिंब बंध की निवृत्ति होने से विशेष है।।२६।।

शंका–निःसंग पुरुष में उपराग किस प्रकार से होता है? उत्तर–

निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ।।२७।।

संगरहित में भी अविवेक से उपराग होता है।।२७।।

संग रहित पुरुष में यद्यपि पारमार्थिक उपराग विषयप्रीति नहीं है।

तथापि अविवेक से औपाधिक प्रतिबिंब ही उपराग होता है।।२७।।

अब इसी का विवरण करते हैं–

जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किंत्वभिमानः ।।२८।।

गोडहर के फूल व स्फटिकके समान नहीं है किंतु अभिमान है।।२८।।

यथा स्फटिक में जपाकुसुम (गोडहर के फूल) के योग में उपराग नहीं होता। अर्थात् लालरूप नहीं होता किंतु प्रतिबिंबवश से अभिमान मात्र भ्रम से होता है कि, स्फटिक रक्त (लाल) है। इसी प्रकार से बुद्धि व पुरुष में उपराग नहीं है बुद्धि प्रतिबिंबवश से अविवेक से पुरुष में उपराग का अभिमान होता है। इससे उपराग के तुल्य वृत्तिप्रतिबिंब ही पुरुष का उपराग है। यह दुःखात्मक वृत्तिरूप उपराग ही विघ्न है। इस विघ्न का नाश होना मोक्ष का प्राप्त होना है। इसका नाश चित्तवृत्तियों का निरोध रूप जो असम्प्रज्ञात योग है उसमें होता है। योग ही से विघ्न (बंध दुःख) का नाश होता यही योगशास्त्र का सिद्धांत है।।२८।।

राग निरोध होने व योगसाधन का उपाय वर्णन करते हैं–

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ।।२९।।

ध्यान धारणा अभ्यास वैराग्य आदिकों से उसका निरोध होता है।।२९।।

उसका अर्थात् उपराग का ध्यान धारणा अभ्यास वैराग्य आदि से निरोध होता है। समाधि द्वारा ध्यान करना योग का कारण है। ध्यान का कारण धारणा है धारणा का कारण अभ्यास है अभ्यास चित्त की स्थिरता सिद्ध करने का अनुष्ठान है विषय से वैराग्य होना अभ्यास का कारण है। वैराग्य के कारण दोष विचारना यम नियम आदि करना है। इन योग के अंगों को साधन से उपराग का निरोध (रोक) होता है।।२९।।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ।।३०।।

लय (निद्रा) व विक्षेप (प्रमाण आदि वृत्ति) वृत्तियों की निवृत्ति से कोई आचार्य कहते हैं।।३०।।

ध्यान आदि से चित्त की निद्रावृत्ति व प्रमाण आदि वृत्ति की निवृत्ति होने से पुरुष के भी वृत्ति उपराग का निरोध होता है। यह कोई आचार्य

कहते हैं।।३०।।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ।।३१।।

चित्त के प्रसाद (प्रसन्न होने) से ध्यान आदि होने से स्थान का नियम नहीं है।।३१।।

चित्त के प्रसाद ही से ध्यान आदिक होते हैं पर्वत के गुहा आदिस्थान होने का नियम नहीं है। कोई स्थान हो जहां चित्त शुद्ध व प्रसन्न हो ध्यान आदि करना चाहिये।।३१।।

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्व श्रुतेः ।।३२।।

औरों का कार्य होना सुनने से प्रकृति की आद्य उपादानता सिद्धि होती है।।३२।।

महत्तत्त्व आदिकों का कार्य होना सुनने से इन सबका मूल प्रकृति का आद्य उपादान कारण होना सिद्ध होता है।।३२।।

प्रश्न–जो पुरुष ही उपादान माना जावे तो क्या दोष है? उत्तर–

नित्यत्वेऽपिनात्मनोयोगत्वाभावात् ।।३३।।

नित्य होने में भी योग होने के अभाव से आत्मा की उपादानता नहीं है।।३३।।

गुणवान् होना व संगी होना उपादान के योग्य होना है। अर्थात् जिसमें गुण होता है व संग होना धर्म होता है वही उपादान कारण हो सकता है। आत्मा में गुण व संग का अभाव है। दोनों के अभाव होने से आत्मा का उपादान कारण होने का योग होना संभव नहीं है। इससे नित्य होनेपर भी आत्मा का उपादान होना सिद्ध नहीं होता।।३३।।

श्रुतिविरोधान्नकुतर्कापसदस्यात्मलाभः ।।३४।।

श्रुतिविरोध से कुतर्क करनेवाले को आत्मलाभ नहीं है।।३४।।

जो पुरुष के उपादान कारण होने में पक्ष हैं वे सब कुतर्क व श्रुति विरुद्ध हैं। कुतर्क करनेवाले अधम को आत्मलाभ अर्थात् आत्मज्ञान का लाभ नहीं होता। जो आत्मा के कारण होने की प्रतिपादक श्रुति हैं वे शक्ति व शक्तिमान् के अभेद भाव से उपासना करने के उपदेश में हैं।। ३४।।

शंका–स्थावर आदि में पृथिवी आदि ही का कारण होना विदित

होता है प्रकृति का सबका उपादान क्यों मानते हो? उत्तर—

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥३५॥

परम्पराक्रम होने के द्वारा कारण होने में भी प्रधान की अनुवृत्ति अणु के समान है॥३५॥

स्थावर आदिकों में परम्परा करके कारण होने में भी उनसे प्रधान का अनुमान होने से प्रधान का उपादान होना अंगीकार किया जाता है। यथा—अंकुर आदि ही द्वारा स्थावर आदि में पृथिवी आदि के अणुओं के अणुगम (अंकुर के सदृश हो प्राप्त) होने से अणुओं का उपादान होना माना जाता है। इसी प्रकार से पृथिवी आदि स्वरूप से प्रकृति का उपादान होना अंगीकार करना चाहिये। इससे पृथिवी आदि में प्रधान के उपादान होने की अनुवृत्ति है॥३५॥

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥३६॥

सर्वत्र कार्य देखने से प्रधान को विभुत्व है॥३६॥

व्यवस्थारहित सर्वत्र विकाररूप कार्य देखने से प्रधान का विभु होना। अर्थात् व्यापक होना विदित होता है यथा—अणुओं का घट आदि में व्यापित्व है। इसी प्रकार से प्रधान का सब कार्य पदार्थों में व्यापित्व है इसका व्याख्यान पूर्व ही हो गया है॥३६॥

जो परिच्छिन्न होने में भी जहाँ कार्य उत्पन्न होता है वहाँ प्रकृति जाकर प्राप्त होती है। ऐसा माना जाय तो? इसका उत्तर यह है—

गतियोगेप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ॥३७॥

गतियोग होने में भी अणु के तुल्य आद्यकारण होने की हानि है॥३७॥

प्रधान (प्रकृति) में गति (क्रिया) योग होने में भी अर्थात् क्रिया योग में मानने में यथा क्रियावान् अणुओं के मूल कारण होने का अभाव है। इसी प्रकार से प्रधान के मूलकारण होने का अभाव होगा इससे प्रधान का व्यापक ही मानना युक्त है। अथवा सूत्र का यह अर्थ है कि, गति योग होने में भी अणु के तुल्य आद्य (जो आदि में हो) कारण होने की हानि नहीं है व भाव इसका यह है कि, परस्पर संयोग होने के अर्थ

त्रिगुणात्मक प्रधान की क्षोभ (सञ्चलन) रूप क्रिया श्रुति स्मृति में सुनी जाती है। इस पर जो यह शंका हो कि, यथा क्रियावान् तन्तु आदि मूलकारण नहीं होते तथा प्रधान मूलकारण नहीं है? तो उत्तर यह है कि, यथा वैशेषिक मत में क्रियावान् पार्थिव आदि अणुओं (परमाणुओं) को मूलकारण मानते हैं। क्रियावान् होने से मूलकारणता की हानि नहीं मानी जाती। इसी प्रकार से क्रियायोग होने में प्रधान के मूलकारण होने की हानि नहीं है।।३७।।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ।।३८।।

प्रसिद्ध से प्रधान की अधिकता है इससे नियम नहीं है।।३८।।

नव द्रव्य प्रसिद्ध हैं प्रधान द्रव्य नव द्रव्य से अधिक है इससे नव ही द्रव्य हैं यह नियम नहीं है।।३८।।

अब यह संशय है कि, सत्त्व आदि त्रिगुणरूप ही प्रकृति है अथवा द्रव्यरूप तीनों गुणों की आधारभूत है? इस संशय के निवारण के लिये यह उत्तर है–

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।।३९।।

सत्त्व आदिकों का उसके रूप होने से उसका धर्मत्व नहीं है।।३९।।

सत्त्वगुणों का उसके अर्थात् प्रकृति रूप होने से उसका धर्मत्व अर्थात् प्रकृति का धर्म होना नहीं है। भावार्थ यह है कि, सत्त्व आदि गुण प्रकृति के रूप ही हैं प्रकृति के धर्म नहीं हैं। प्रकृति के रूप ही होने से सम्बंध संबंधी भाव न होने से धर्म धर्मी होने का निश्चय नहीं होता। अब यह संशय है कि, सत्त्वआदि गुणों का प्रकृति के कार्य होना संभव नहीं होता। क्योंकि एक प्रकृति का विना अन्यद्रव्य के संयोग विचित्र तीन गुणों का उत्पन्न करना संभव नहीं है। विना अन्यद्रव्य के संयोग विचित्र कार्य की उत्पत्ति प्रत्यक्ष को विरुद्ध कल्पना करना उचित नहीं है। इसका उत्तर यह है कि, सत्त्व आदि कोई प्रकृति से भिन्न पदार्थ नहीं हैं। जिनकी विचित्र उत्पत्ति मानी जाय अंशभाव से कार्य होना कहा जाता है। यह पृथिवी से पृथिवीके अंशरूप द्वीपों की उत्पत्ति है। इसी प्रकार से प्रकृति से गुणों की उत्पत्ति जानना चाहिये।।३९।।

विना प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती प्रधान किस प्रयोजन से सृष्टि को उत्पन्न किया? यह वर्णन करते हैं–

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्र-कुंकुमवहनवत् ।।४०।।

उपभोग न होने में भी ऊंट के केसर ले चलने के समान पुरुष के अर्थ प्रधान की सृष्टि है।।४०।।

पर के अर्थ प्रधान की सृष्टि होने का तृतीयाध्याय के ५८ सूत्र में इसी ऊंट के केसर ले चलने के दृष्टांत से व्याख्यान किया गया है।।४०।।

सृष्टि के विचित्र होने का कारण कहते हैं–

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।।४१।।

कर्म की विचित्रता से सृष्टि की विचित्रता है।।४१।।

अनेक प्रकार के विचित्र शरीर आदि होने से विचित्र सृष्टि कर्मों की विचित्रता से होती है। अर्थात् अनेक प्रकार के कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार की सृष्टि होती है।।४१।।

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ।।४२।।

समभाव व विषमभाव से दो कार्य होते हैं।।४२।।

इस शंका निवारण के लिये कि, एक कारण से दो विरुद्ध कार्य सृष्टि व प्रलय कैसे होते हैं। यह कहा है कि, समभाव व विषमभाव दो भिन्न हेतु होने से दो कार्य होते हैं सत्त्वआदि तीन गुणरूप प्रधान हैं। इन तीन गुणों का न्यून अधिक होना विषमभाव है व तीनों का सम होना सम भाव है। इन दो हेतुओं से सृष्टि प्रलय दो कार्य होते हैं स्थिति सृष्टिरूप सृष्टि अंतर्गत है। इससे प्रकृति को उसका कारण होना पृथक् नहीं कहा।।४२।।

शंका–प्रकृति के सृष्टि स्वभाव होने से ज्ञान के पश्चात् भी संसार होना चाहिये? उत्तर–

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ।।४३।।

विमुक्तबोध होने से लोक के तुल्य प्रधानकी सृष्टि नहीं होती।।४३।।

विमुक्तबोध होने से अर्थात् पुरुष साक्षात्कार होने से उस पुरुष के अर्थ कृतार्थ होने से फिर प्रधान की सृष्टि नहीं होती। जैसे लोक में मंत्री आदि राजा का काम करके कृतार्थ हो फिर राजा के लिये प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार से प्रकृति फिर प्रवृत्त नहीं होती।।४३।।

शंका–प्रधान की सृष्टि से शांतता नहीं है क्योंकि अज्ञानियों का बंध रहने से संसार बना रहता है। ऐसा होने में प्रकृति की सृष्टि से मुक्त का भी फिर बंध हो जाना चाहिये अथवा हो जाना संभव है?

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ।।४४।।

अन्य प्रति उपसर्पण होने में भी निमित्त के अभाव से मुक्त का उपभोग नहीं होता।।४४।।

कार्य कारण संयोगरूप सृष्टि करके अन्यप्रति अर्थात् अज्ञानी प्रति प्रधान का उपसर्पण (गमन) होने में भी अर्थात् प्रधान के प्राप्त होने में भी मुक्त का उपभोग नहीं होता। क्यों नहीं होता? निमित्त के अभाव से अर्थात् उपभोग में प्रधान की उपाधि से उत्पन्न संयोग विशेष व उसके कारण अविवेक आदि जो निमित्त होते हैं। उनके अभाव से, यही मुक्त प्रतिप्रधान सृष्टि की निवृत्ति अर्थात् पुरुष के भोग का हेतु प्रधान का अपनी उपाधि से परिणाम विशेषरूप जो जन्म है उसका उत्पन्न न करना है।।४४।।

यह मुक्त व बद्ध की व्यवस्था तब घटित हो सकती है जब पुरुष बहुत हो और पुरुषों का बहुत होना अद्वैत श्रुतियों से प्रतिषेधित (खण्डित) है। इससे संशय होता है इस संशय के निवारण के अर्थ यह सूत्र है–

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ।।४५।।

व्यवस्था (अवस्था भेद) से पुरुष का बहुत होना विदित होता है।।४५।।

बंध मोक्ष व्यवस्था होने से पुरुषों का बहुत होना अनुमान से सिद्ध होता है व श्रुति से भी सिद्ध है श्रुति में कहा है "यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्ययेतरे दुःखमेवापियन्ति" इत्यादि। अर्थ–जो आत्मा को जानते हैं वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं इतर दुःख ही को प्राप्त होते हैं इत्यादि।।४५।।

उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

उपाधि हो उसकी सिद्धि होने में फिर द्वैत है॥४६॥

जो उपाधि मानी जाय कि, उपाधि से अनेक प्रकार की व्यवस्था होती है। तो उसकी (उपाधि की) सिद्धि होने में भी द्वैत सिद्ध होगा अद्वैत का निषेध होगा॥४६॥

पूर्वपक्ष–उपाधि भी अविद्यारूप है इससे अद्वैत का भृङ्ग नहीं होता? उत्तर–

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥

दो से भी प्रमाण का विरोध है॥४७॥

दो से अर्थात् पुरुष व अविद्या दो अंगीकार करने से भी अद्वैत प्रमाण का विरोध होगा॥४७॥

अन्य दूषण भी कहते हैं–

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥४८॥

दो से विरोध न होने से भी पूर्व और उत्तर साधक के अभाव से घटित नहीं होते॥४८॥

दो से विरोध न होने से भी अर्थात् जो ऐसा माना जाय कि पुरुष व अविद्या दो हैं और अविद्या के मानने में कुछ विरोध नहीं है। तो ऐसा मानने से भी पूर्व व उत्तर अर्थात् अद्वैतवादी जो प्रकृति के प्रतिषेध करने में पूर्वपक्ष करते हैं व तथा साधक के अभाव से अपने सिद्धांत में द्वैत पक्ष के निषेध में जो उत्तर वर्णन करते हैं वे दोनों घटित नहीं होते। पूर्व पक्ष इस हेतु से घटित नहीं होता कि, अविद्या व आत्मा दो को वे मानते हैं। प्रकृति व आत्मा दो को हम मानते हैं जो उनके दो मानने से अद्वैत का विरोध नहीं है। तो हमारे मत से विरोध नहीं है वे अविद्या को अनित्य वाचारंभणमात्र मानते हैं। हम भी विकार को अनित्य वाचारंभणमात्र मानते हैं परंतु जो हमारे अनेक पुरुषों के अंगीकार करने से और प्रकृति को भी नित्य अंगीकार करने से दोनों में विरोध है तो दो में से कौन सत्य मानना चाहिये? ऐसा संशय हो तो अद्वैतवादियों का उत्तरपक्ष (सिद्धांत) घटित नहीं होता। इससे अद्वैत पक्ष युक्त नहीं है, क्यों अद्वैत

पक्ष का सिद्धांत घटित नहीं होता? साधक के अभाव से अर्थात् अद्वैतपक्ष का कोई साधक हेतु सिद्ध नहीं होता। किन्तु अविद्या के अंगीकार करने ही से अद्वैतवादियों के सिद्धांत की हानि होती हैं।।४८।।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ।।४९।।

प्रकाश से उसकी सिद्धि होने में कर्म व कर्ता का विरोध है।।४९।।

अद्वैतवादी जो प्रकाश वा ज्ञान से आत्मा का सिद्ध होना मानें व प्रकाश ही रूप अद्वैत भाव से आत्मा माना जाय तो इसके प्रतिषेध में यह कहा है कि, प्रकाश से उसकी सिद्धि होने में कर्म व कर्ता का विरोध है। अर्थात् चैतन्यरूप प्रकाश से चैतन्य की सिद्धि मानने में कर्म कर्त्ता का विरोध होता है। प्रकाश्य व प्रकाशक दो के सम्बंध में प्रकाशक का प्रकाश करना लोक में दृष्ट है। साक्षात् अपना ही आप में सम्बंध होना विरुद्ध है अर्थात् आप ही कर्म व आप ही कर्ता होना विरुद्ध है। इससे आत्मा को प्रकाशक मानने में भी कर्म सम्बंध होने से द्वैत सिद्ध होगा।।४९।।

शंका–जो चेतन में प्रकाश धर्म न माना जावे और अपने प्रकाश से आप सिद्ध होना मानने में कर्म व कर्ता का विरोध होता है। तो किस प्रकार से आत्मा सिद्ध होता है? उत्तर–

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ।।५०।।

जड़ से व्यावृत्त (भिन्नता को प्राप्त) चैतन्यरूप जड़ को प्रकाश करता है।।५०।।

जड़ की व्यावृत्ति मात्र से व्यावृत्त चैतन्यरूप जड़ को प्रकाश करता है, सूर्य आदि तेज धर्मवान् के समान चेतन प्रकाश नहीं करता भाव इस सूत्र का यह है कि, अद्वैत मानने ही में कर्म व कर्ता का विरोध होता है। हम जड़ व चेतन पदार्थ को मानते हैं हमारे पक्ष में विरोध नहीं है। हमारे धर्म धर्मी भेद न मानने में व चिद्रूप ही चेतन के मानने में दोष नहीं है। क्योंकि यद्यपि हम सूर्य आदिकों में प्रकाश होने के तुल्य चेतन में प्रकाश धर्म नहीं मानते परंतु चिद्रूप (चैतन्य वा प्रकाश रूप ही) पदार्थ जड़ को प्रकाश करता है। यह मानते हैं और वह प्रकाश करना इस हेतु से माना जाता है कि, जड़ की व्यावृत्ति मात्र से चैतन्य होना कहा

जाता है। जड़ से व्यावृत्त (पृथक्ता को प्राप्त) चिद्रूप पदार्थ जड़ के ज्ञान का हेतु होने से जड़ को प्रकाश करता है॥५०॥

शंका–द्वैत के मानने में अद्वैत श्रुतियों का विरोध होगा? उत्तर–

श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥

रागियों के वैराग्य के अर्थ उसकी सिद्धि होने से श्रुति विरोध नहीं है॥५१॥

श्रुति विरोध नहीं है विरोध न होने में हेतु यह है कि रागियों के वैराग्य होने के अर्थ श्रुति में अद्वैतप्रतिपादन के प्रयोजन की सिद्धि है। अर्थात् रागी जो विषयों में लिप्त हैं उनके वैराग्य होने के अर्थ इस प्रयोजन से कि अद्वैतसाधन से सत् वैराग्य होता है श्रुति अद्वैतप्रतिपादन किया है। क्योंकि पुरुष ज्ञान ही मात्र सत् और सब असत् द्वैत के अभाव जानने से स्वतंत्र कोई अन्य फल न सुनने से केवल आत्मज्ञान ही कल्याणरूप जानने से सब अन्यपदार्थ से परम वैराग्य उत्पन्न होता है॥५१॥

अद्वैतवादी जगत् को असत् कहते हैं जगत् सत्य है अथवा असत्य है? इसका सिद्धांत हेतुसंयुक्त वर्णन करते हैं–

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात् ॥५२॥

अदुष्टकारण से उत्पन्न होने से (दुष्टकारण से उत्पन्न न होने से) बाधक के अभाव होने से जगत् का सत्य होना सिद्ध है॥५२॥

निद्रा आदि दोष से दुष्ट अंतःकरण से उत्पन्न होने के हेतु से स्वप्न में शंख में पियराई देखना लोक में असत्य होना विदित होता है। इस प्रकार से किसी दोष से दुष्टकारण से महत्तत्त्वादि कार्य प्रपंच उत्पन्न नहीं हैं। प्रकृतिकारण सत्य होने के विषय में पूर्व ही वर्णन किया गया है। इससे दुष्टकारण से उत्पन्न न होने से अर्थात् सत्कारण से उत्पन्न होने से जगत् सत्य है। तथा सत्य होने के बाधक (विरुद्ध) प्रमाण के अभाव से (न होने से) जगत् सत्य है। जो यह कहा जाय कि, जो श्रुति अद्वैत वर्णन करती हैं व जगत् के सत् होने के प्रमाण की बाधक हैं तो अद्वैत सिद्ध न होने का प्रमाण पूर्व ही वर्णन किया गया है। संक्षेप से यहां फिर वर्णन

किया जाता है कि, अद्वैतश्रुति पूर्वोक्तानुसार वैराग्य के अर्थ हैं। अथवा प्रकरण अनुसार ब्रह्म सब में व्यापक व ब्रह्म से पृथक् कोई पदार्थ न जानकर ब्रह्ममय भाव से विभाग की प्रतिषेध करनेवाली हैं। प्रपंच के अत्यंत तुच्छता वर्णन पर नहीं हैं। अन्यथा अद्वैत होने में उन ही (श्रुतियों) के होने की बाधा होगी क्योंकि जगत् प्रपंच स्वप्नवत् मिथ्या होने के हेतु से स्वप्नकाल के शब्द के मिथ्या होने में उस शब्द के द्वारा जाना गया जो अर्थ है। वह भी संदेहयुक्त असत्य ही होना संभव है श्रुतियों का अपने ही आत्मा की घातक होने से अर्थात् अपने ही प्रमाण की अपघातक होने से श्रुतियां प्रपंच के अत्यंत निषेध करने पर नहीं हैं। इससे जगत् के बाधकप्रमाण के अभाव से जगत् सत्य है।।५२।।

जगत् केवल वर्तमान दशा में सत् नहीं है सदा सत्य है। इस अभिप्राय से सदा सत् होने का हेतु वर्णन करते हैं–

प्रकारान्तरासंभवात्सदुत्पत्तिः ।।५३।।

अन्य प्रकार से उत्पन्न होना संभव न होने से सत्
की उत्पत्ति होती है।।५३।।

पूर्व ही जैसा वर्णन किया गया है उन पूर्वोक्त युक्तियों से असत् का उत्पन्न होना असंभव है। सूक्ष्मरूप कारण में सत् वर्तमान ही कार्य उत्पन्न वा प्रकट होता है। इससे सत् ही की प्रकटता होती है।।५३।।

अहंकारः कर्ता न पुरुषः ।।५४।।

अहंकार कर्ता है पुरुष नहीं है।।५४।।

अभिमानवृत्ति के अंतःकरण को अहंकार कहते हैं। अहंकार के उत्तर प्रवृत्ति होती है व अहंकारवृत्ति भेद से बुद्धि का कार्य है। अहंकार के उत्तर प्रवृत्ति होने से अहंकार को कर्ता कहा है। अपरिणामी होने से पुरुष का प्रवृत्त होना सिद्ध नहीं होता।।५४।।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।।५५।।

भोग चेतन में प्राप्त होता है उसके कर्म से संचित वा जनित
(उत्पन्न किया गया) होने से।।५५।।

अहंकार के कर्ता होने में भी भोग चेतन ही में प्राप्त होता है। इसमें यह शंका निवारण के अर्थ कि, इस प्रकार से अन्यनिष्ठ कर्म से अन्य के भोग होने में पुरुषविशेष में होने का नियम न होना चाहिये। यह कहा है कि उसके (चेतन के) कर्म से संचित होने से अर्थात् भोग चेतन के कर्मों से संचितफलरूप होने से चेतन में प्राप्त होता है। अपने अपने अहंकार अंतःकरण द्वारा किये हुये कर्मों का फलभोग होने से अन्य के कर्म का फल अन्य को होना सिद्ध नहीं होता इससे अतिप्रसंग दोष नहीं है।।५५।।

चन्द्रादिलोकेप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ।।५६।।

चन्द्र आदि लोक में भी आवृति है निमित्त के सद्भाव होने से।।५६।।

निमित्त के सद्भाव होने से अर्थात् भोग के निमित्त अविवेक कर्म आदि सत् होने से चन्द्र आदि लोक में भी आवृत्ति है। अर्थात् चन्द्र आदि लोक में प्राप्त होने से भी फिर बंध होता है अर्थात् चन्द्र आदि लोक में प्राप्त फिर दुःखबंध में प्राप्त होता है।।५६।।

शंका–चंद्र आदि लोकवासियों के उपदेश से अनावृत्ति होना माना जावे? उत्तर–

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ।।५७।।

पूर्व के समान लोक के उपदेश से सिद्धि नहीं होती।।५७।।

पूर्व के समान अर्थात् यथा पूर्वोक्त मनुष्य लोक में उपदेश मात्र से ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार से अन्यलोक के वासियों के उपदेश मात्र से उन लोक के गये हुओं को ज्ञान की सिद्धि नहीं होती।।५७।।

पारंपर्येण तत्सिद्धौविमुक्तिश्रुतिः ।।५८।।

परम्परा से उसकी सिद्धि होने में मुक्ति श्रवण है।।५८।।

परम्परा से उनकी अर्थात् ज्ञान की सिद्धि होने ही में मुक्ति होना सुना जाता है। लोक आदि में गमन मात्र से मुक्ति नहीं होती अर्थात् ब्रह्मलोक आदिगत पुरुषों का मोक्ष होना श्रवण मनन आदि परम्परा के द्वारा ज्ञान ही सिद्ध होने में सुना जाता है अन्यथा होना संभव नहीं है।।५८।।

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेश-काललाभो व्योमवत् ।।५९।।

व्यापक होने में भी उपाधि योग से गति सुनने से आकाश के तुल्य भोग देश का कालवश से लाभ होता है।।५९।।

यद्यपि व्यापक आत्मा में गति संभव नहीं होती तथापि लोकांतर में आत्मा का गमन सुनने से आकाश के तुल्य उपाधियोग से भोग देश का कालवश से लाभ होना सिद्ध होता है। अर्थात् यथा व्यापक आकाश में घट आदि के उपाधियोग से गति होती है। तथा आत्मा में उपाधि योग से गति होती है। विशेष व्याख्यान इसका पूर्व ही हो गया है।।५९।।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ।।६०।।

अनधिष्ठित के पूतिभाव प्रसंग होने से उसकी सिद्धि नहीं है।।६०।।

भोक्ता से अधिष्ठित न हुए अर्थात् अधिष्ठान रहित वीर्य आदि के पूतिभाव होने के प्रसंग से जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है। उसकी अर्थात् भोगायतन होने की सिद्धि नहीं है।।६०।।

अदृष्टद्वाराचेदसम्बद्धस्य तदसंभवाज्जलादिवदंकुरे ।।६१।।

अदृष्टद्वारा होवे संबंध रहित का वह संभव न होने से अंकुर में जल आदि के समान है।।६१।।

इस शंका निवारण के लिये कि, विना अधिष्ठान अदृष्टद्वारा भोक्ताओं के अर्थ भोगायतन शरीर का निर्माण हो जाय यह कहा है कि, संबंध रहित अदृष्ट का अर्थात् अधिष्ठान (प्राणव्यापार) के सम्बंध-रहित अदृष्ट का शुक्र (वीर्य) आदिकों में शरीर निर्माण में वह संभव न होने से अर्थात् भोक्ता के द्वारा होना संभव न होने से अदृष्टद्वारा शरीर के निर्माण होना सिद्ध नहीं होता। यथा बीज संबंध रहित जल आदिकों का अंकुर की उत्पत्ति में कर्षक आदि के द्वारा होना संभव न होने से जल आदि के द्वारा अंकुर (आदि की) उत्पत्ति नहीं होती। इससे अपने आश्रय संयोग सम्बंध के साथ ही अदृष्ट का शुक्र आदि में सम्बंध होना मानना योग है। ऐसा मानने में आत्मसंयोगरूप से अधिष्ठान का भोग उपकरण (उपकार करना) शरीर के निर्माण का

हेतु होना सिद्ध है॥६१॥

निर्गुणत्वात्तदसंभवादहङ्कारधर्मा ह्येते ॥६२॥

निर्गुण होने से व उसके असंभव होनेसे यह अहंकारके धर्म हैं॥६२॥

वैशेषिक आदिक यह मानते हैं कि, अदृष्ट के सम्बंध से आत्मा अधिष्ठाता है। इसके प्रतिषेध के अर्थ यह कहा है कि, निर्गुण होने से व उसके (अदृष्ट के) संभव न होने से भोक्ता का अदृष्ट द्वारा अधिष्ठाता होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अदृष्ट आदि अहंकार अंतःकरण सामान्य के धर्म हैं भोक्ता के धर्म नहीं हैं। ऐसा मानने में हमारे मत में विना द्वारा की अपेक्षा संयोगमात्र से साक्षात् ही भोक्ता का अधिष्ठान होना सिद्ध होता है यह भाव है॥६२॥

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥६३॥

अन्वय व्यतिरेक से विशिष्ट का जीवत्व है॥६३॥

जीवधातु बल प्राणधारण अर्थ में है इससे जीव शब्द का अर्थ प्राणी होने का है। यह जीवत्व धर्म अहंकार विशिष्ट पुरुष का धर्म है केवल पुरुष का नहीं है। किस हेतु से अन्वयव्यतिरेक से अर्थात् अहंकार के अन्वय (संयोग) व्यतिरेक (वियोग) से क्योंकि केवल अहंकारवान् पुरुषों में सामर्थ्य व प्राण धारण होना देखा जाता है व अहंकार शून्यों के चित्त की वृत्तियों का राग जो प्रवृत्ति का हेतु है। उसके उत्पन्न करनेवाले अहंकार के अभाव होने से निरोध होना विदित होता है। इससे विशिष्ट पुरुष का जीवत्व है। अहंकार रहित पुरुष का जीवत्व नहीं है स्वच्छ मुक्तरूपत्व है अर्थात् अहंकार रहित मुक्तरूप होता है॥६३॥

अहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥६४॥

अहंकाररूप कर्ता के अधीन कार्यसिद्धि है प्रमाण के अभाव से ईश्वर के अधीन नहीं है॥६४॥

अहंकाररूप जो कर्ता है उसी के अधीन कार्यसिद्धि अर्थात् सृष्टि संहार की सिद्धि है। क्योंकि सामर्थ्य वा बल अहंकार ही का कार्य है अहंकार रहित में सृष्टि उत्पत्ति कार्य का सामर्थ्य होना विदित नहीं

होता। अहंकार रहित ईश्वर है, क्योंकि ईश्वर में अहंकार होने का कोई हेतु पाया नहीं जाता सृष्टि करने की प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। इससे प्रमाण के अभाव से कार्य की सिद्धि ईश्वर के अधीन नहीं है। अहंकाररूप अर्थात् अहंकारोपाधिक सिद्धपुरुष ब्रह्म रुद्र से कार्यसिद्धि हो सकती है परंतु उनका भी मूलकारण प्रकृति है नित्य ईश्वर नहीं है। नित्य ईश्वर का सृष्टिकर्ता होना प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।।६४।।

शंका—औरों का कर्ता तो अहंकार है अहंकार का कर्ता कौन है? उत्तर—

अदृष्टोद्भूतिवत्समानत्वम् ।।६५।।

अदृष्ट की प्रगटता के तुल्य समानत्व है।।६५।।

यथा सृष्टि की आदि में प्रकृति क्षोभक (क्षोभ करनेवाला) कर्म की कालविशेष मात्रा से प्रकटता होती है और उसके उद्बोधक कर्मान्तर (जन्यकर्म) के कल्पना करने में अनवस्था की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से अहंकार कालमात्र निमित्त ही से उत्पन्न होता है। उसका कोई अन्यकर्ता नहीं है। अन्यकर्ता कल्पना करने में अनवस्था दोष प्राप्त होने का प्रसंग है। इस प्रकार से प्रकृति क्षोभक कर्मरूप अदृष्ट व अहंकार का समानत्व है अर्थात् अदृष्ट के सदृश अहंकार भी मानने के योग्य है।।६५।।

महतोऽन्यत् ।।६६।।

अन्य महत्तत्त्व से।।६६।।

अन्य अहंकार कार्यरूप सृष्टि संहार से भिन्न जो पालन कार्य है वह तत्त्व से होता है पालन में पर अनुग्रह मात्र प्रयोजन होने से अभिमान राग का अभाव व शुद्ध सत्त्वगुण का होना सिद्ध होता है। इससे महत्तत्त्व का कार्य है इस सूत्र से महत्तत्त्वोपाधिक अर्थात् महत्तत्त्वरूप विष्णु को जो सृष्टि का पालक होना कहते हैं सिद्ध हो सकता है।।६६।।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्य-
नादिर्बीजांकुरवत् ।।६७।।

प्रकृति का अपना व अपने स्वामी का भाव होना कर्मनिमित्तक होने में भी बीज व अंकुर के समान अनादि है।।६७।।

प्रकृति व पुरुष का अपना व स्वामिभाव अर्थात् भोग्य भोक्ता भाव

जो कर्म निमित्तक माना जावे तो भी वह प्रवाहरूप से अनादि ही है। यथा बीज व अंकुर का सम्बंध अनादि है आकस्मिक होने में मुक्त का भी फिर भोग प्राप्त होना सिद्ध होगा। इससे निमित्त अवश्य अंगीकार के योग्य है॥६७॥

अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः ॥६८॥

अथवा अविवेक निमित्त से पंचशिख मानते हैं॥६८॥

अथवा प्रकृति व पुरुष का भोग्य व भोक्ता भाव अविवेक निमित्त से है जैसा कि, पंचशिख आचार्य मानते हैं। पंचशिख आचार्य जो अविवेक निमित्त से भोग्य व भोक्ता भाव होना मानते हैं। उनके मत में भी अविवेक अनादि है अविवेक के अनादि होने से भोग्य भोक्ता भाव अनादि है। प्रलय में भी वासनारूप से कर्म के समान अविवेक रहता है॥६८॥

लिङ्गशरीरनिमित्तकइतिसनन्दनाचार्यः ॥६९॥

लिङ्गशरीरनिमित्तक है यह सनन्दन आचार्य मानते हैं॥६९॥

प्रकृति व पुरुष का भोग्य भोक्ताभाव लिंगशरीरनिमित्तक है यह सनन्दनाचार्य मानते हैं। क्योंकि लिंगशरीर ही के द्वारा भोग होता है। उनके मत में भी लिंगशरीर अनादि है व लिंगशरीर के अनादि होने से भोग अनादि है। यद्यपि प्रलय में लिंगशरीर नहीं रहता तथापि उसके कारण अविवेक व कर्म आदि के पूर्वसृष्टि के लिंगशरीरजन्य रहते हैं। उनके द्वारा बीज व अंकुर के सदृश भोग्य भोक्ता भाव व लिंगशरीर का अनादि होना सिद्ध होता है इससे लिंगशरीरनिमित्तक है॥६९॥

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥७०॥

**जिस किसी निमित्त से हो उसका नाश पुरुषार्थ है
उसका नाश पुरुषार्थ है॥७०॥**

चाहे कर्म निमित्त से हो चाहे अविवेक निमित्त से, चाहे जिस निमित्त से हो प्रकृति पुरुष का अनादि भोग्य भोक्ता भाव जिसका नाश करना वा दूर करना अति कठिन है उसका नाश पुरुषार्थ है। उसका नाश पुरुषार्थ है यह निश्चय है शास्त्र के आदि में यही प्रतिज्ञा है कि, त्रिविध

दु:ख की अत्यंत निवृत्ति अत्यंत पुरुषार्थ है व इसी को सिद्धांत निश्चित करके शास्त्र की समाप्ति में कहकर शास्त्र को समाप्त किया है। उसका नाश पुरुषार्थ है इसको दो बार शास्त्र की समाप्ति सूचित करने के लिये कहा है।।७०।।

इति श्रीप्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततेरहीतिख्यातग्रामवासिश्रीप्रभुदयालु-विनिर्मिते सांख्यदर्शनीयदेशभाष्ये तत्राध्याय: षष्ठस्समाप्त: समाप्तंचेदं शास्त्रमिति ।।

पुस्तकें मिलने के स्थान

१) खेमराज श्रीकृष्णदास,
श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
खेतवाडी, मुंबई - ४०० ००४.

२) खेमराज श्रीकृष्णदास,
६६, हडपसर इण्डस्ट्रिअल इस्टेट
पुणे - ४११ ०१३.

३) गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास
लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस,
व बुक डिपो,
अहिल्याबाई चौक, कल्याण
(जि. ठाणे - महाराष्ट्र)

४) खेमराज श्रीकृष्णदास,
चौक - वाराणसी (उ.प्र.)

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, बम्बई-४०० ००४

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS